॥ श्रीरस्तु ॥

आर्तनादविज्ञापना-त्रिशती

...राजकार्यवर्यश्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ-
... श्रीमच्छङ्करचैतन्यभारती-
श्रीमन्माधवचैतन्य-भारती-
श्लोकरूपेणानूदिता ।

निर...

श्रीकृष्णानन्द ब्रह्मचारिकृत-हिन्दीभावार्थसहिता



★

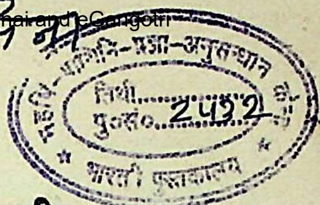
श्रीकाशीसंस्कृतराष्ट्रभाषासमिति द्वारा प्रकाशिता च

१०१, ...
सरकार ही ...
संस्कृत विश्व...
१४२, अनुसन्ध...
है जिसमें संस्कृत...
प्रथ... १९७३

मूल्यमेकरूप्यकम् १.००

श्री प्रज्ञादृव्य सादरमद समर्पित

माधवचैतन्य भारतीस्वामि जी



श्लोकानुसारि-विषय-सूची

पराधीनता के पहले भारत की राजभाषा संस्कृत ही रही १ से, जाति मत कलहों का फलस्वरूप पराधीनता आई, तब से देशका नाम हिन्दुस्तान और देशवासी हिन्दु ११ से, पहले संस्कृत ही विद्या थी अब वह अस्पृश्य रह गया। विद्या प्रणाली में विद्या नहीं १८, धर्म निरपेक्ष शासन बन गया तो देश निरपेक्ष भाषा (संस्कृत) का शासन क्यों नहीं। धर्म निरपेक्षता ठीक नहीं। धार्मिक भाषाका प्रचार आवश्यक २२, संस्कृत भाषा से आदमी का संस्कार हो जाता है ३८, ये प्रान्त भाषायें पहले नहीं किन्तु बाद में बनाई गयी थी ४६, संस्कृत पण्डित ही संस्कृत के ह्रास के कारण ५१, भारतीय जनता विचारशून्य ५४, संस्कृत की पढ़ाई इह पर लोक साधन ६१, संस्कृतको न जानने वाला वैज्ञानिक नहीं और संस्कृत कठिन नहीं ६७, भारतीयता या आर्यत्वादि संस्कृत से सिद्ध होते है। स्वर्गादि प्राप्तिके लिये संस्कृत आवश्यक है ७४, संस्कृत राष्ट्र-भाषा भुक्ति और मुक्ति का साधन ८१, सरकारी कार्यालयादि के नाम संस्कृत शब्द ही लिये गये हैं ४९, जिन-२ वस्तुओं के पद संस्कृत में नहीं है वे दूसरी भाषाओं से लिये जा सकते ९६, उनमें प्रतिपदिकत्व भी हैं। अतः उनमे संस्कृत विभक्ति लगा सकते है। वे अपशब्द भी नही, विभिन्न क्रियापद से ही संस्कृत में विकार १०१, देश भाषा भाषा नहीं किन्तु भासा हैं ११६, इस समय संस्कृत का आश्रय सरकार ही है और स्तुति मात्र से संस्कृत का कुछ प्रयोजन नहीं ११९, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय और अनुसन्धान विभाग से भी संस्कृत की वृद्धि नहीं १४२, अनुसन्धाता लोग भी नूतन विषय नहीं लिखते। नूतन विषय भी वही है जिसमें संस्कृत वृद्धि के उपाय और बाधक नियमों का खण्डन हो। जाति प्रथा के नियमों से सस्कृत की वृद्धि में बाधा पडी। ऐसे बाधक वाक्यों को स्मृत्यादिग्रन्थों से बाहर निकाल देना या गुणकर्मो से चारवर्ण मान लेना ही संस्कृत की वृद्धि के उपाय १४६, जातिप्रथा वेद विरुद्ध है। यह विषय 'जात्युपाधिविवेक' में १६१, जाति प्रथामे किसी का सत्यत्व भ्रम होता हो तो

वह उसे विवाह और सहपंक्ति भोजनादि तक सीमित रक्खे न कि वेद विद्या में अधिकारादितक। ऐसा अधिकार तो गुणकर्मों से ही होना चाहिए १६७, जाति प्रथा से हुई हानि, उससे संस्कृतवाणी की आर्ति (दुःख) १७६, ब्रह्माजी द्वारा संस्कृतवाणी की इच्छा पूछना १८१, वाणी के द्वारा अपनी इच्छा बताना १८७, संस्कृत राष्ट्रभाषा घोषित होगी तो अंग्रेजी की तरह उसको भी पढ़ेंगे। प्रान्तीयता का निवारण प्रान्तभेद रहित भाषा से ही होगा १९४, मतभेद के कारण एक भारत दो राष्ट्र बन गया, भाषाभेद बढ़ जायेंगे तो बचा हुआ भाग भी बहुत राष्ट्र बन जायेगा। ऐसा होना उत्तर प्रदेश का ही हानिकारक होगा। संस्कृत के माध्यम से ही संयुक्त राष्ट्र हमेशा के लिए रह सकेगा। भाषा भेद से ही पाकिस्थान भी दो राष्ट्र बन गया है २००, हिन्दी से संस्कृत हजारों गुण श्रेष्ठ। जिस हेतु से अंग्रेजी को हटाना है वह हिन्दी में भी। प्रत्येक भाषा भी अगल-बगल के तीन प्रान्तों में बहुत दूर तक बोली जाती हैं। दूसरे राष्ट्रवाले संस्कृत को ही भारत की मुख्य भाषा समझते हैं तो भारत नेता हिन्दी को मुख्य मानते हैं २०४, भारतीय जनता की स्वभाषा संस्कृत ही है न कि दूसरी २१२, हिन्दु हिन्दुस्तान और हिन्दी ये शब्द विदेशियों के द्वारा इलाहाबाद इत्यादि की तरह प्रचारित किये गये और हिन्दी विदेशी भाषा (उर्दू) के नियम और पदजालों से भरी है। अतः वह भी विदेशीय है। पूरी तरह से स्वदेशीय भाषा संस्कृत ही है २१५, प्रान्तीय भाषाओं के पण्डित सब संस्कृत को जानते हैं और जो संस्कृत बिलकुल नहीं जानता है वह अपनी भाषा को भी नहीं जानता है। अतः अन्य भाषाभिज्ञों से संस्कृतज्ञों की संख्या ज्यादा है २२६, संस्कृत को छोड़ने से पाठ्य प्रणाली दोष पूर्ण ही रहेगी संस्कृत के माध्यम से ही अंग्रेजी हट सकेगी। स्वतन्त्रता के बाद संस्कृत की दुःस्थिति बढ़ गयी २३०, हिन्दी विरोध को दबाने के लिये पुरस्कार देकर दूसरी भाषायें भी पढ़ाते हैं। इससे किसीका कुछ प्रयोजन नहीं। संस्कृतेतर भाषा मुख्य होगी तो वैषम्य बढ़ेगा। अतः साम्यवादी उसका विरोध करे २३६, प्रान्त भाषाओं के लिये भी संस्कृत की पढ़ाई आवश्यक है। बोल चाल की भाषा राष्ट्र भाषा होती यह नियम भी ठीक नहीं २४५, राष्ट्र भाषा को सब लोग पढ़े यह भी



नियम नहीं किन्तु केन्द्र और प्रान्त के मुख्य कार्यकर्ता अवश्य पढ़ेंगे। अतः संस्कृत राष्ट्र भाषा से सामान्य लोग न डरे २५६, वर्तमान नेता गण संस्कृत को पढ़ना नहीं चाहते। अतः वे अपनी भाषा को ही सबके ऊपर लादना चाहते हैं। दूसरों के शिर पर हिन्दी का भार न रक्खा जाय तो हिन्दी वालों का क्या विगड़ता है ? स्वाराज्य भाषा हो स्वराज्य भाषा होगी तो किसका क्या नुकसान ? हिन्दी के त्यागने में बहुत कारण हैं तो भी उसे राष्ट्रभाषा बनवाते और संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनवाने में बहुत हेतु हैं तो भी उसे लेते नहीं हिन्दी का प्रचार होने के बाद भी उसका विरोध हो सकेगा २६०, संस्कृतवाणी का मनोरथ भी क्रांति से पूर्ण होगा। अंग्रेजी समर्थन् के लिये हिन्दीविरोध इष्ट नहीं किन्तु संस्कृत राष्ट्रभाषा के लिये वह इष्ट ही है। संस्कृत राष्ट्र-भाषा विरोधियों के लिए सरस्वती जी का शाप और उसे सिद्ध करने वालों के लिये आशीर्वाद २६९, संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनवाने के लिये ब्रह्माजी का आश्वासन २७७, नेतृत्व स्थिर चित्त वालों का उचित, न कि चपलचित्त वालों का। विदेशों में कीर्ति के लिये स्वदेशियों को वंचित करना, बहु वेतन लेना और बार-२ टैक्स बढ़ाना, चोरों को और घूस कोरियों को दण्ड न देना। उन हेतुओं से जनता में क्षोभ २८७, थोड़े पुण्य से बहुत पाप का नाश समझना भ्रम ही है। पापों के हेतु से यह कलियुग बना, नहीं तो कृतयुग ही है। बहुत सन्तान पैदा करना इह और पर लोक में दुःख हेतु ३००, जाति प्रथा का कारण संस्कृत की हानि, मनुष्यों में अवान्तर जातिभेद ईश्वर निर्मित नहीं किन्तु मीमांसक कल्पित। यज्ञोंमें पशुवध और जन्म से चार वर्ण सेश्वरमत में युक्त नहीं, मत्स्यमांस भक्षण मनुष्य जाति का नहीं। पहले वर्ण गुणों से माने जाते थे बाद में जन्म से ३१४, ईश्वर सम्मत जातिभेद जहाँ है वहाँ अवयव भेद भी है, गोत्व मनुष्यत्वादि जातियाँ भी जन्म-सिद्ध नहीं किन्तु आकृतिव्यंग्य। ऐसा न मानने पर अश्व और खच्चर एक ही जाति के हो जायेंगे। ईश्वर निर्मित जाति बदल नहीं सकेगी। वर्ण तो बहुत बदल जाने वाले हैं ३२२, जैसे जन्म सिद्ध पण्डित त्रिपाठी इत्यादि उपाधियाँ शास्त्रसिद्ध नहीं और शास्त्रसिद्ध वे उपाधियाँ जन्मसिद्ध नहीं वैसे ही जन्मसिद्ध ब्राह्मणादि वर्ण शास्त्रसिद्ध नहीं, शास्त्रसिद्ध वे

वर्ण जन्मसिद्ध नहीं ३४०, चार वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्माजी के मुखादि से नहीं। ऐसी उत्पत्ति बोधक श्रुति का तात्पर्य विषयान्तर में है। सृष्टि के आदि में सब प्राणियों का जन्म शतरूपा और मनु से था। वर्ण शास्त्रीय पदार्थ हैं न कि लौकिक। अतः शास्त्रोक्त अर्थवादों से उनका स्वरूप का निर्णय होना चाहिए ३४८, आस्तिकों के अन्यायों से ही नास्तिकता पैदा हुई। नास्तिकता जातीयता और प्रान्तीयता का निर्मूलन करने में संस्कृत भाषा ही शरण। जो संस्कृत को राष्ट्रभाषा चाहते हैं उनको जाति प्रथा छोड़ना ही होगा। जो जातिप्रथा नहीं चाहते हैं उनको संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनवाना पड़ेगा। संस्कृत और जातिप्रथा को वैसा ही रखकर हिन्दुमतोद्धार की बातें करना व्यर्थ ही हैं ३५५, जातिप्रथा रहेगी तो संस्कृत की उन्नति नहीं। संस्कृत राष्ट्रभाषा बनेगी तो जातिप्रथा न रह सकेगी। संस्कृत राष्ट्रभाषा न होगी तो भारतीय सब सिद्धान्तों का नाश होगा ३६२, विश्व में ईश्वर एक, मानव जाति एक, भाषा एक और राष्ट्र भी एक, भ्रम प्रमादों के कारण उन सब में भेद मालूम पड़ता है। भ्रम हठ जायेगा तो सब विषयों में एकता हो जायगी। इसके लिये पहले भारत में संस्कृत राष्ट्रभाषा होनी चाहिये ३६७।

मूल्य १-००



पुस्तक मिलने का पता
श्रीमुकुटेश्वर मन्दिर
बी० १७/९९ तिलभाण्डेश्वर पार्क, वाराणसी, यू० पी०





श्रीसंस्कृतवाणी सार्वनाद विज्ञापना-त्रिशती

प्राचीनभारतमहानृपमन्त्रिवर्गैः केन्द्रीयशासन सभासु सुपूजिताऽहम्।
किन्त्वद्य मन्त्रिनिचयैर्यदुपेक्षिताऽऽसं दोषोऽत्र कः कथय मे भगवन्कृपालो १

प्राचीन भारत के राजा महाराजा और मन्त्रियों ने केन्द्रीय शासन सभादि में मुझ को पूजते रहे और मुझ से (संस्कृत) ही भाषण करते थे, किन्तु आज कल के मन्त्रिगण मुझको उपेक्षित कोटि में रख दिये थे, हे भगवन् ! इसमें हमारा दोष क्या है ? बताओ। यही बात आगे के नौ श्लोकों के द्वारा स्पष्ट की है ॥ १ ॥

सत्ये युगे हि मनुसन्ततिसर्वलोकविख्यातनाभिभरतादिमहीशभाषा।
त्रेतायुगे दशरथात्मजरामचन्द्र-तत्पुत्रशासनसभादिषु चाहमेका ॥२॥
सा द्वापरेऽपि च युधिष्ठिर-राजगोष्ठ्यामासं कलावपि परीक्षिदपत्यकानाम्।
राजर्षिवर्यजनमेजयतत्सुतानामास्थानिकी समभवं जनपूजिता च ॥३॥
तेषां पुरीजनपदेषु विधानसंसत्सामान्य-मानवगृहव्यवहारकार्ये।
सैवाहमेकशरणं त्वभवं जनानां नान्या हि काऽपि यदिहात्र विलोक्यतेऽत्र ४
भोजादि-राजसदसि प्रथिता मदन्या भाषाऽप्यभूदिति वचस्यपि किंप्रमाणम्।
व्याचक्षतां जगति सम्प्रति सुप्रसिद्धपाश्चात्यकूटनृपनीतिविशारदास्ते ५
श्लोकैः कुविन्दरचितैर्मुदितेन राज्ञा प्रत्यक्षरं च खलु लक्षमपि प्रदत्तम्।
तेनानुमेयमिदमत्र तु भोजकाले सामान्यकार्मिकजना अपि संस्कृतज्ञाः ६

केचिद्वदन्ति भुवि यत्सुगतोपदिष्टा भाषैव तत्समयशासकवागपीति।
तत्सर्वथैव वितथं तु यतो हि पाली नासीत्तदा क्षितिपतेर्भुवि मुख्यभाषा ७
केनापि पुंसा यदि वाचि कस्यांचित्स्वेच्छयाऽऽत्माभिमतं कदाचित्।
विनिर्मितं चेन्न हि तावताऽपि सा राजभाषैव वदेति दृष्टम् ८
स्वामीदयानन्दसरस्वती प्राक् प्रणीतवानेव बहूनि हिन्द्याम्।
नैतावता वक्तुमिदं च शक्यं हिन्दी तदा भारतराष्ट्रभाषा ९
तस्मादिदं सकलभारतकर्ण-धारैः केन्द्रप्रदेशसचिवैश्च परैरवश्यम्।
स्वीकार्यमेव भुवि संस्कृतभारती प्रागासीत्स्वभारतमहीपतिराजभाषा १०

'कृतयुग में मनु सन्तति महाराजाओं की त्रेतायुग में श्रीरामचन्द्रादि की और द्वापर युग में युधिष्ठरादि की मुख्य राजभाषा में ही (संस्कृत) रही थी। कलियुग में परीक्षित और जनमेजयादि की संसदीय भाषा में ही थी और उस समय में शहर और गांवों की साधारण जनता की व्यावहारिक भाषा भी मुझसे अतिरिक्त भाषा कोई नहीं रही थी। भोजराजा की सभा में भी संस्कृतेतर भाषा के रहनेमें क्या प्रमाण है? यह बात आज कल के पाश्चात्यकूट राज-नीतिज्ञ लोग बता सकते हैं? उस समय में तन्तुवाय आदि लोग भी संस्कृत में ही श्लोक लिखते रहे और उनको भोजराजा प्रत्येक अक्षर का एकैक लक्ष पुरस्कार देते रहे इससे यह स्पष्ट है कि भोज के समय में सामान्य मजदूर भी संस्कृतज्ञ थे। कुछ लोगों का कहना है कि बुद्ध भगवान् ने पाली भाषा में अपने उपदेश दिये थे। अतः उस समय की राजभाषा भी पाली हुई होगी, किन्तु यह ठीक नहीं क्यों? किसी महापुरुष ने किसी भाषा में किसी समय में कुछ लिखा हो तो उतने मात्र से उस समय की वह राजभाषा सिद्ध नहीं होती। श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी में ही बहुत सी पुस्तकें लिखी थीं, क्या एतावता वह उस समय की राजभाषा कही जा सकती थी? अतः यह सब को मानना होगा कि विदेशी शासन के पहले यहाँ संस्कृत ही भारत की राजभाषा रही ॥ २-१० ॥

९१-११२

नवम श्लोके हिन्द्यामित्यस्योपपत्तिः ~~६७-७३~~ पर्यन्तश्लोकैर्दर्शिता,
एवमन्यत्रापि ज्ञातव्यम् ॥

जातिप्रधानमतपरस्परवैरभावे—वैंदेशिकाक्रमणमत्र बलादभूत्प्राक् ।
पश्चाच्छनैरहमधो विहिताऽरि भाषावृद्‌ध्या हि भारतमभारतमेव जातम् ११
यावच्च संस्कृतमनोहरभारतीह राष्ट्रे विभिन्नविषयेषु च राजभाषा ।
तावद्धि भारतमिदं समभूत्तदीया मर्त्याः स्थिताः सुहृदयेन च भारतीयाः ।१२
यत्कालतो ह्यमरसंस्कृतभारतीयं स्वस्थानतः प्रमुषिता कितवैस्तदानीम् ।
देशस्य नाम समभूद्‌ध्रुभं च हिन्दुस्थानं तदीयजनता कथिताऽपि हिन्दुः ।१३

जब यहाँ के लोग जातिमतादि भेदों से आपस में लड़ते रहे तब विदेशी लोग भारत में आकर शासन करने लगे और बाद में शत्रुओं की भाषा की वृद्धि से मैं दब गयी और तब से यह भारत देश भी अभारत ही हो गया। जब तक संस्कृत यहाँ की राजभाषा रही थी तब तक इस देश का नाम भारत रहा और इसकी जनता भी भारतीय या आर्य कहलाते थे। जब से संस्कृत को दुष्टों ने नीचे कर दिया था तब से देश का नाम हिन्दुस्तान पड़ गया और उसकी जनता भी हिन्दू कहलाने लगी ॥ ११–१३ ॥

विद्या हि नाम जगतीतलमानवानामेकैव संस्कृतमहाऽमरगीः पुराऽसीत् ।
किन्त्वद्य भौतिकमताभिरुचीन् प्रतीयं निन्द्येव भाति जनधीरधिका किमासीत्
वेदास्तदङ्गानि च दर्शनानि षट् स्मृतीतिहासाश्च पुराणसञ्चयः ।
नाट्यादि शास्त्राण्यपि राजनीतयः समस्तविद्या मयि सन्त्यनादितः १५

वेद दर्शन और इतिहास पुराणादि सब ग्रन्थ राशि संस्कृत में ही हैं। पहले दुनिया में विद्या शब्द से केवल संस्कृत विद्या ही विद्या समझी जाती थी और इस से अतिरिक्त कोई विद्या ही नहीं रही किन्तु आजकल के भौतिकवादी (नास्तिक) की दृष्टि में यह संस्कृत-विद्या विद्या नहीं रह गयी, क्या आज कल के लोगों की बुद्धि बढ़ गयी है ? ॥ १४–१५ ॥

द्वे ह्येव विद्ये भुवि वेदितव्ये पराऽपरत्वेन निगद्यमाने ।
परा हि वेदोक्तनिजात्मविद्या स्वर्गादिहेतुप्रतिपादिकाऽन्या ॥१६
नान्या तृतीया जनवेदितव्या विद्याऽस्ति या लोकहितैकहेतुः ।
तथाप्यहं सर्वजगत्प्रसिद्धा पाठ्यक्रमाल्यास्तु बहिष्कृताऽद्य ॥१७

दो ही विद्या दुनिया में पढ़ने योग्य है। एक परा और दूसरी अपरा। परा विद्या तो वेदोक्त ब्रह्मविद्या और अपरा विद्या स्वर्ग नरकादि के उपाय बताने वाली है। इनसे अतिरिक्त तीसरी पठनीय विद्याही नही। ऐसी मैं सर्वजगत्प्रसिद्ध विद्याप्रणाली से आजकल बहिष्कृत की गयी हूँ॥ १६–१७॥

अस्पृश्यतां च सुतरां विनिवार्य राष्ट्रे केन्द्रप्रदेशसचिवादिगणो ह्यस्पृश्याम्।
मामद्य चिन्तयति भारतराष्ट्रमध्ये हे देव दुःखदशामवलोकय त्वम्॥१८
तैर्दीर्घसूत्रिभिरसह्यमपि त्रिभाषासूत्रं विनिर्मितमहो बहुधा विचार्य।
दुस्साहसं महदकारि च यन्मदीयसंस्पर्शमात्रमपि तत्र न तैः कृतं हि॥१९
विद्याविहीनस्य विभागकस्य विद्याविभागोक्तिरसङ्गतार्था।
शिक्षा हि विद्याग्रहणं तयाऽपिहीनस्य शिक्षाप्रविभागता धिक्॥२०
विद्याविभागे सचिवत्वमेतद्धीनस्य विज्ञेषु न शोभतेऽपि।
सम्यग्विचारे तु स एड्युकेषन् मिनिष्टरित्येव च भाषितव्यः॥२१

हमारे मन्त्रिगण अस्पृश्यता को बिल्कुल नष्ट करके भारत राष्ट्र में मुझको अस्पृश्य समझ रहा है। दीर्घसूत्री हमारा मन्त्रिगण ने बहुत शोच-विचार करके त्रिभाषा सूत्र बनाया था और उसमें मेरा स्पर्शमात्र भी नहीं किया था। उनका यह काम दुस्साहस मात्र है। विद्या (संस्कृत) रहित विभाग का नाम विद्या-विभाग कहना सङ्गत नहीं और विद्याग्रहण का नाम है शिक्षा, जिसमें यह शिक्षा (संस्कृताभ्यास) नहीं है उसको शिक्षा विभाग कहना भी ठीक नहीं है। विद्याविभाग में मन्त्रित्व भी विद्या (संस्कृत) शून्य को शोभा नहीं देता है विचार करने पर वह एड्युकेषन मिनिस्टर ही कहा जायगा॥ १८–२१॥

राष्ट्रे विरुद्धमतबाहुलकं विलोक्य नेह महोदयमहासचिवस्तटस्थः।
कस्यापि कष्टमिह मास्त्विति शासनं स्व-राष्ट्रे हि धर्मनिरपेक्षमपीष्टवान्सः॥२२
एवं विभिन्न लिपिभिर्बहुदेशभाषाः सम्पश्यताऽपि कथमत्र समस्तराष्ट्रे।
कस्यापि कष्टमिह मास्त्विति तेन चाहं नेष्टा हि देशनिरपेक्षसमानभाषा॥२३
धर्मादिशास्त्रविषये स यथा तटस्थो भाषादिबाह्यविषये न तथा विधोऽभूत्।
तस्यापि काचिदिह वर्तत इष्टभाषा या स्वीकृताऽद्य निजभारतराष्ट्रभाषा॥२४
यो ह्यत्र यावदधिकं कुरुते परार्थं स स्वार्थमप्यधिकमार्जयतीह तावत्।

स्वार्थं निधाय हृदये कुरुतेऽन्यसेवां मार्गान्तरेण तदवाप्तिममन्यमानः ॥२५
सर्वोऽपि धर्मेण नियन्त्रितो जनो न मूषिकं हन्तुमपि प्रवर्तते ।
नेहू भियाऽसौ न तदीयशासन-भयेन वा नैव तथा निवर्तते ॥२६॥
प्रायो जनाः पापभियैव सर्वथा चौर्यादिकं नैव हठाऽपि कुर्वते ।
नैतेऽपि नेहू प्रभृतेर्भयेन वा तथा प्रवर्तन्त इहापि सर्वदा ॥२७॥
पापान्न भीतस्त्विह दुर्बलान्नरान् हन्तुं प्रवर्तेत सदा मृगेन्द्रवत् ।
न सर्वकारादिभयेन तादृशान्निवर्तते दुष्कृतघोरकर्मतः ॥२८॥
एकः सहस्रेष्वनधीतधर्मा चौर्यादिकृत्येषु प्रवर्तते तम् ।
न निग्रहीतुं ह्यपि सर्वकारः शक्तो भवत्यद्यतनः स्वराष्ट्रे ॥२९॥
त्यक्त्वा सदा धार्मिकसंस्कृतं ते सर्वे जनाश्चौर्यकृतो यदि स्युः ।
नासौ निरोद्धुं सुतरां प्रभुः स्यादराजकत्वं त्वचिराद्धवेद्धि ॥३०॥
तस्माच्च पापाद्भयबोधिकां तथा धर्मप्रवृत्तेरभिवर्धिकां गिरम् ।
अध्यात्मबोधात्मगतिप्रदर्शिकां प्रचारयेद्भारतराष्ट्रशासनम् ॥३१॥
नेहू महामन्त्रिमहोदयस्य धर्मानपेक्षा हृदि चास्तु नाम ।
एतावता धार्मिकदेशशिष्टि-धर्मानपेक्षा न भवेत्कथंचित् ॥३२॥
राजाऽपि रोगादिवशेन भोजनं परित्यजन् सर्वजनैरपीह तत् ।
न शक्नुयात्त्याजयितुं तथैकणा धर्मानपेक्षाऽपि न सर्वगा भवेत् ॥३३॥
न चैवमप्यत्र विचिन्तनीयं यत्ते जनाः स्वीयगृहे स्वधर्मान् ।
चरन्तु केन्द्रीयगृहेषु धर्मानुपेक्ष्य गच्छन्तु च सर्वदेति । ३४॥
न युक्तमेतच्च यतो हि धर्म-प्रचारभाषामपहाय मर्त्याः ।
कथं विजानीयुरिह स्वधर्मानतः सदा संस्कृतवाक् प्रचार्या ॥३५॥
आयोगमेकं मम वृद्धि सूचकं नियोज्य सम्प्रेष्य च कृत्स्नभारते ।
तस्मूचितोपायमसौ न हीष्टवान् नेहूः किमेतज्जनतन्त्र शासनम्? ॥३६॥
पाश्चात्य संस्कृतिरतेन तथा कृताऽस्तु वाऽन्यैः कथं मम तिरस्करणं मतं भोः।
शास्त्रीयसंस्कृतिसनातनधर्म निष्ठ-स्वर्गापवर्गकृतिसंस्कृतवृद्धिकामैः ३७॥

राष्ट्र में परस्पर विरुद्ध बहुत से मतों और सिद्धान्तों को देख कर, सब मतों से तटस्थ रहने वाले हमारे प्रधान मन्त्री नेहरूजी ने, किसी एक मत के अनुसार शासन चलाने पर, दूसरों को कष्ट होगा, यह समझ कर, ऐसा न होने के लिये वे अपने शासन को ही धर्म निरपेक्ष मान लिया था, वैसा ही विभिन्न लिपियों से युक्त बहुत सी प्रान्त भाषाओं को देखते हुए, किसी एक प्रान्त की भाषा को मुख्य मानने पर दूसरे प्रान्त वालों को कष्ट होगा, ऐसा समझ कर वैसा न होने के लिये प्रान्तनिरपेक्ष और सर्व समान भाषा मुझको राष्ट्रभाषा क्यों नहीं माना था ? धर्मादि विषयों में वह जैसा तटस्थ (किसी भी मत का नहीं) था, वैसा भाषादि विषयों में तटस्थ नहीं था। उसकी भी एक इष्ट भाषा रही जिस को वह भारत की राष्ट्रभाषा मान लिया था जो आदमी जितना परोपकार करता है वह स्वार्थ भी उस से अधिक सिद्ध कर देता है। स्वार्थ सिद्धि को ही मन में रखकर सभी दूसरों की सेवा करने लगते हैं। सभी लोग धार्मिक भावनाओं से नियन्त्रित होकर अपनी चीजों को खराब करने वाले मूष को भी मारने का स्वतः प्रवृत्त नहीं होते न कि नेहरू भय से या उनकी सरकार के भय से। एवं पापभय से ही प्रायः लोग मन से भी चोरी नहीं करते न कि सरकार के भय से। जिस का पाप भय नहीं है वह दुर्बल मनुष्यों कोभी सिंह की तरह मारने को तैयार होता और सरकार के दण्ड का भय रहने पर भी वह ऐसे कुकर्म से निवृत्त नहीं होता है। हजारों में कोई एक आदमी जो धर्मशास्त्र पढ़ा नहीं, चोरी करेगा तो उसको भी पकड़ने में आजकल की सरकार असमर्थ होती है तो धार्मिक भाषा को हमेशा के लिये छोड़ देने का कारण सभी लोग यदि चोरी करने लगेंगे तो वह सरकार बिलकुल पकड़ नहीं सकेगी और उससे अराजकता भी फैल सकती है। अतः पाप से भय और धर्म में प्रवृत्ति करवाने वाली और अध्यात्म बोध आत्मा का स्वर्गनरकादि गमन प्रदर्शित करने वाली धार्मिक भाषा का प्रचार राष्ट्र की ओर से होना आवश्यक है। नेहरू जी के हृदय में व्यक्तिगत रूप से धर्म की निरपेक्षा भले ही रहे किन्तु उतने मात्र से धार्मिक देश का शासन धर्म निरपेक्ष कभी नहीं हो सकता। जैसेराजा भी रोग के कारण भोजन छोड़ दिया हो तो भी वह सब लोगों के द्वारा भोजन छुड़वा नहीं सकता, वैसे ही एक आदमी धर्मनिरपेक्ष हुआ हो तो सभी लोग धर्मनिरपेक्ष नहीं हो सकते। यहाँ ऐसा कहना भी उचित नहीं कि सब लोग अपने-अपने घरों में धर्मशास्त्र के अनुसार ही चले और सरकारी कार्यालयों में धर्म निरपेक्ष रहें, यह भी ठीक नहीं क्योंकि धार्मिक भाषा संस्कृत को बिलकुल छोड़ देनेका कारण, लोगों को धर्माधर्म का ज्ञान भी कैसे होगा।

अतः उसके लिये भी संस्कृत की पढ़ाई अनिवार्य रूप से होनी चाहिये। संस्कृत के बारे में जन मत को समझने के लिए उन्होंने एक संस्कृत-आयोग को नियुक्त करके सब प्रान्तों में भेजा था। वह आयोग सर्वमतों के अनुसार संस्कृत को सभी परीक्षाओं में अनिवार्य की सूचना दी थी किन्तु उसको भी उन्होंने उपेक्षित कर दिया था, क्या यह जनतन्त्र शासन कहा जा सकता है? पाश्चात्य सभ्यताको मानने वाले भले ही ऐसा किये हों, भारतीय संस्कृति को मानने वाले सभी भारतवासी मेरे तिरस्कार को कैसे मान लिये थे? ॥२२–३७॥

धर्मनिरपेक्ष इत्यत्र धर्म शब्दो मतामिप्रायेणैव तेन प्रयुक्तः।

देहेन्द्रियाण्यहरहो हि सुसंस्क्रियन्ते स्नानादिभिश्च सततं पुरुषैस्तथैव।
दिव्यर्षिमस्तकविनिर्गतसंस्कृतोक्त्या जिह्वा कथं भुवि न संस्क्रियते मनुष्यैः३८
शक्त्यैव संस्कृतपदैरिह शब्दबुद्धिरुत्पद्य वक्तृजनपुण्यमपि प्रदद्यात्।
श्रोतृप्रजाहितमदृष्टमपि प्रसाद्य सर्वस्यकर्णरसनेन्द्रियशुद्धिदा स्यात्॥३९॥
कणादगौतमपतञ्जलिजैमिनीयशास्त्राणि सम्यगिदमप्यनुमन्वते हि।
ग्रामीणवाग्व्यहृतेरपि जन्यदोषै र्म्लेच्छत्वमात्मनि भवेदिति घोषयन्ति४०
मार्कण्डमुन्युक्तमहास्मृतावपि निगद्यते भ्रान्तवचःप्रभाषणैः।
मर्त्यो भवेत्प्राकृत आत्मना कृतात्तद्दोषमात्रात्पतितोऽपि चान्ततः ॥४१॥
भोज्यान्नपानवसनादिविशुद्धिमेव पश्यत्यदृश्यमिह मानवजातिरद्य।
संभाषणीयमविचार्य च संस्कृतान्यद्यत्किञ्चिदेव भणति स्थितभाव्यनर्थो
दोषैरपभ्रंशपदप्रपूर्ण - प्रान्तीयभाषा - व्यवहारजन्यैः ।
प्रत्युक्तमप्याचरितं मनुष्यैः कर्माद्य सञ्जायत एव मोघम् ॥४२॥
गोस्वामिनोऽपि तुलसीप्रियदासनाम्नो रामायणानुवदनेन कृतोऽपराधः।
श्रीबोम्मेरेति गृहनामकपोतनार्थोऽप्यान्ध्र्या मनूद्य मम भागवतं कृतागाः४४
येऽन्येऽद्य संस्कृत निबद्धपुराणराशिं तद्भाषयाऽप्यनुवदन्ति च तेऽपि नूनम्।
कुर्वन्ति मे भुवि महापकृतिं यतोऽन्ये मर्त्यास्तदेव च पठेयुरिमां विसृज्य ४५

गङ्गा स्नानादि से शरीरेन्द्रियों को प्रतिदिन शुद्ध करने वाले मनुष्य, पवित्र महर्षियों के मस्तक से निकली हुई संस्कृतवाणी से अपनी जिह्वा को क्यों पवित्र

नहीं करते ? संस्कृत पदों से जो शब्दबोध होता है वह शक्ति-ज्ञान से होता है। देश भाषाओं से होने वाला शब्दबोध शक्ति भ्रम से होता। शक्ति से बोध जनकपदों के उच्चारण से वक्ता की जिह्वा और श्रोता का श्रवणेन्द्रिय पवित्र होता है संस्कृत वाक्यों के उच्चारण से पुण्य और प्रान्त भाषाओं के उच्चारण से दोष और म्लेच्छत्व भी आ जाता है, ऐसा कणाद गौतमीय पातञ्जल और जैमिनीय सिद्धान्त वाले सभी एक मत से मान लिये थे और मार्कण्डेय स्मृति में कहा गया है इन प्राकृत भाषाओं के उच्चारण से मनुष्य प्राकृत और पतित हो जाते हैं। आज कल की जनता खाने पीने की चीजों और पहनने वाले कपड़ों की ही शुद्धि देखती है न कि संभाषणीय भाषा की। भाषा के बारे में वह बिना सोचे-विचारे ही जो कुछ असंस्कृत भाषा को बोल देती है। इन्हीं दोषों के कारण से ही आजकल वेदोक्त कर्म यथाविधि करने पर भी फल नहीं देते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने संस्कृत रामायण को हिन्दी में और बोम्मेर पोतन भी श्रीमद्भागवत को तेलुगु में अनुवाद करके हमारे लिये बहुत अपकार किये थे और आजकल भी संस्कृत ग्रन्थों को प्रान्त भाषाओं में अनुवाद करने वाले, हमारे लिये बहुत अपराधी हैं, क्योंकि लोग उसीको पढ़कर मुझको छोड़ देते हैं। यदि ये तुलसी मानस चरित्र वगैरा बने नहीं होते, तो लोग असल श्रीमद्रामायण श्लोकों को ही इन चौपायियों की तरह रटते ॥ ३८–४५ ॥

स्त्रीबालसेवकजनैः स्वगृहे सुखेन व्याहर्तुकामरुचिहेतुकदेशभाषाः ।
निष्पादिता विगतसारतया तथापि तास्वेव भावकसुतासु रता इमेऽद्य ॥४६॥
आदावियं न जनिता न भवेयुरग्रे मध्ये च बुद्बुदसमाः समवाप्य जन्म ।
मध्ये विनाशमपि ताः क्रमशो लभेरन्नीदृग्विनश्वरवचस्सु कथं बुधास्था ॥४७
एका त्वशोकसमयस्थितपालिभाषा नैवाद्य दृष्टिपथमञ्चति भारतेऽपि ।
यास्त्वद्य दृष्टिविषयाः प्रतिदेशभिन्नाः तस्मिन्नशोकसमये न हि सुव्यभूवन् ४८
अग्रेऽपि चेदृशविनश्वरमातृभाषाः स्थास्यन्त्यजस्रमिति वाच्यपि किं प्रमाणम्।
प्रादेशिका भवति जन्मवतीति हेतोः नश्येदवश्यमचिरादिह मे समक्षम् ॥४९
कालत्रयेऽपि परमात्मवदेव सप्त-द्वीपेऽहं त्रिभुवनेऽपि विराजमाना ।
विज्ञातुमेतदपि साम्प्रतिका वराकाः शक्ता न हीषदिह सन्त्यधिकारमत्ताः ॥५०

अतिवृद्ध माताओं से छोटे बालकों से और अपठित सेवक जनों से आसानी से व्यवहार करने के लिए लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न देश

भाषाओं को बनवाये थे, इन में कुछ सार नहीं तो भी आजकल के लोग हमारी कन्याओं के पीछे पड़ कर मुझ को छोड़ देते हैं। ये प्रान्त भाषायें कृतादि युगों में नहीं रही थी और अन्त तक भी नहीं रहेंगी। बीच में ही जल बुद्बुदों के तरह पैदा हो कर वीच में ही नष्ट हो जाती हैं। उदाहरण के लिये एक पाली भाषा को लीजिये। वह अशोक राजा के समय में भारत में रही किन्तु वह आज भारत में व्यावहारिक रूप में नहीं दीखती और आज कल दीखने वाली हिन्दीवगैरा देश भाषायें उस अशोक के समय में नहीं रही और ऐसा ही आगे भी ये स्थिररूप से रहेंगी इसमें कोई विश्वास नहीं है। ये प्रादेशिक भाषायें किसी समय में उत्पन्न हुईं थी। अतः 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः; इस न्याय से हमारे सामने ही ये नष्ट हो जायेंगी। मैं तो तीनों कालों में सप्त द्वीपों में और तीन भुवनों में विराजमान हूँ, हमारी इस स्थिति को आजकल के बहिर्मुख लोग अपने अविकार से मत्त होकर जरा सा भी समझ नहीं पाते ॥ ४६–५० ॥

मत्पण्डिता मम विनाशकरा यतस्ते सर्वान्न पाठयितुमत्र च कामयन्ते।
राजाज्ञया त्वगतिका ह्यपि पाठयन्तो वैषम्यदृष्टिमपहाय न पाठयन्ति ॥५१
प्रायस्त्विदं प्रथितदक्षिणभारतेऽस्ति सर्वत्र संस्कृतसुधीष्वनुदारता च।
तस्माज्जना मयि च तेष्वथ मद्बुधेषु द्वेषं प्रकाश्य सह तैरिह मां त्यजन्ति।५२
मांसर्वमानवहितामपि केचिदद्यास्वीयां सुतामि वसमस्तजनाय दातुम्।
नेच्छन्तिवाञ्छिततदन्वयवट्वलाभाच्छीर्णास्मि मन्दमतिवेश्मनि पुत्रिकेव५३

हमारे संस्कृत पण्डित ही मेरे ह्रास के कारण हो गये हैं। क्योंकि ये सबको संस्कृत पढ़ाना नहीं चाहते हैं। कहीं राजाज्ञा से अगत्या पढ़ाने पर भी वैषम्य दृष्टि को छोड़कर नहीं पढ़ाते हैं। प्रायः यह अन्याय दक्षिण भारत में है। उदार स्वभाव का अभाव तो सभी संस्कृत पण्डितों में बराबर विराजमान हैं। अतः लोग उनके ऊपर द्वेष से उनको और उनकी भाषा होने के नाते मुझको भी छोड़ देते हैं। मैं समस्त जनता की हितकारक हूँ मुझको कुछ लोग अपनी कन्या की तरह सबको देना नहीं चाहते और उनके सम्मत विद्यार्थी के न मिलने का कारण, विचाररहित घर में रहनेवाली कन्य की तरह मैं भी जीर्ण और शीर्ण हो रही हूँ ॥ ५१–५३ ॥

श्रीभारतीयमनुजा न हितं विदन्ति गृह्णन्ति यत्किमपि तत्त्वमिहाविचार्य।
यन्मां विहाय निजपैत्रकसम्पदं ते कुर्वन्ति मानरहिताःपरमातृदास्यम् ॥५४

वंशप्रवर्तकविरिञ्चिवशिष्ठमुख्या विश्वस्य सर्वजनता पितरो भवन्ति ।
तेषामहं शुभदसंस्कृतवाक् स्वभाषा तस्माद्भवामि भुवि मानवपैत्रभाषा ।५५
पितरं सुतरामविजानता-मपयशो महदेव भवेत्तथा ।
पितृवाचमपीषदजानता - मपयशो महदेव सुनिश्चितम् ॥५६

भारतीय जनता अपने हित को न ही जानती और तत्त्व समझे बिना ही किसी को पकड़ लेती है। वह अपनी पितृ-सम्पद् (संस्कृत) को छोड़कर मान रहित होकर परमातृ-(परमातृभाषायें) भाष.के सेवक बनते हैं ब्रह्मा और वशिष्ठादि महर्षिगण, विश्व की जनता के वंशों के प्रवर्तक होते हैं। अतः वे इस जनता के पितर भी कहे जाते हैं। उन पितरों की भाषा तो संस्कृत ही है। अतः विश्व-जनता की भी संस्कृत, पितृभाषा होती है ॥ ५४–५६ ॥

मर्त्या यथाऽर्हा निजपैत्रसम्पदो न मातृसम्पत्त्यधिकारिणस्तथा ।
स्वपैतृकीं संस्कृतभारतीमिहा-प्यध्येतुमर्हन्ति न मातृभाषितम् ।५७॥
स्वमातृभाषाऽपि विना परिश्रमं नायाति कस्यापि नरस्य पृष्ठतः ।
तमेव चेन्मय्यखिलप्रदे जना यदि प्रकुर्युस्तदतीव शोभनम् ॥५८॥
मातुश्च भाषा ह्यपशब्दपूर्णा प्रायो भवेन्नैव परिष्कृता सा ।
तस्माद्यदा मातुरपत्यमङ्के तदैव सा वेत्तुमपीह योग्या ॥५९॥
कन्या हि मातरमनुव्रजति क्रियासु तद्भाषयैव लभते निजकार्यशिक्षाम् ।
स्त्रीभाषयाऽधिगतया स्वहितं पुमांसः किं साधयेयुरिह लौकिकमौर्ध्विकं वा ६०

लोक में, मैं अपने पिता को नहीं जानता हूँ किन्तु माता को ही जानता हूँ कहने पर जैसे अपयश होगा वैसा ही मैं पितृभाषा को नहीं जानता हूँ कहने पर भी अपकीर्ति होगी। लोक में मनुष्य जैसे पितृसम्पत्ति का ही अधिकारी होता है न कि मातृ-सम्पत्ति का वैसा ही वह पितृभाषा संस्कृत को ही पढ़नेका अधिकारी है न कि मातृभाषा का। अपनी मातृभाषा भी परिश्रम के बिना किसी के पीछे नहीं आती है। उतना ही परिश्रम को लोग यदि संस्कृत में करेंगे तो बहुत अच्छा होगा। मातृभाषायें तो प्रायः अपशब्द पूर्ण हैं। अतः वे माता के गोद में रहते समय ही जानने की योग्य हैं। कन्या हीमाता का अनुकरण करती और उसकी भाषा-से अपना कर्तव्य भी सीखती है स्त्री भाषा को पढ़कर पुरुष कौन से लौकिक या पारमार्थिक हित सिद्ध करेगा ॥ ५७–६० ॥

मामेकवाचमधिगत्य समर्थता ते प्राप्स्यन्ति सुष्ठिह परत्र च कार्यजाते ।
किन्त्वत्र बुद्धिमनिवेश्य महत्वहीन-भाषासमूहमवगन्तु मिहारभन्ते ॥६१

मृतस्य पुण्यादिवशेन स्वर्गं गतस्य मर्त्यस्य हि देवताभिः ।
प्रसक्तपारस्परिकं मयैव संभाषणं नान्यगिरा न हिन्द्या ॥६२॥

एवं स्वपापेन कृतान्तसन्निधिं चाकृष्यमाणस्य तदीयकिङ्करैः ।
प्रताडनं वारयितुं प्रयाचतः संभाषणेऽहं शरणं न हीतरा ॥६३॥

यो मां न वेत्यत्र स मूकभृत्यवत् प्रताड्यमानोऽपि न याचितुं क्षमः ।
तथापि तत्सर्वमपि प्रयोजनं विहाय मन्दोऽन्यगिरः पठत्यहो ॥६४॥

पुरोऽभिवृद्धिं हि गमिष्यतः शुभा मतिर्मनुष्यस्य भवत्यपि क्षितौ ।
अधोगतिप्रापकहेतुसंभवे सा रावणादेरिव दुष्प्रवृत्तिदा ॥६५॥

निरर्थके कर्मणि बालकानां स्वतः प्रवृत्ति र्न तु सार्थके सा ।
अज्ञानिनामेवमिहाप्रवृत्तिः सर्वार्थसंसाधकसंस्कृते हि ॥६६॥

एकमात्र मुझको (संस्कृत) पढ़ने से ही मनुष्य लौकिक और पारमार्थिक कार्यों में समर्थ हो जाता है; किन्तु इस पर दृष्टि न रखकर वह सारहीन बहुत भाषायें पढ़ने लगता है। मर जाने के बाद पुण्यात्मा, जब स्वर्गलोक में जाता है वहाँ देवताओं के साथ आवश्यक भाषण भी संस्कृत में ही होगा न कि हिन्दी में यदि वह यहाँ संस्कृत नहीं जानता है तो उसकी हालत स्वर्ग में मूक (गूँगा) भृत्य के तरह होगी वैसा ही मरने के बाद पापात्मा को जब यमकिंकर मारते पीटते हुए यमराज के पास ले जाते है उस समय अपना कष्ट बताकर उनसे न मारने की प्रार्थना भी संस्कृत भाषा में ही होगी न कि अपनी देशभाषा में। यदि वह यहाँ संस्कृत नहीं जानता हो तो उसकी हालत भी कसाईखाने की पशुओं की तरह होगी। इतने प्रयोजन संस्कृत से रहने पर भी अज्ञानी लोग उसे छोड़कर दूसरी-दूसरी भाषायें पढ़ते हैं। पुरो वृद्धि पाने वालोंकी बुद्धि भी अच्छी होती और अधोगति के हेतु होने पर रावणादि के तरह दुर्बुद्धि भी होती है प्रयोजन शून्य कामों में बालकों की प्रवृत्ति होती है न कि सप्रयोजन में, वैसा अज्ञानियों को भी प्रवृत्ति निरर्थक भाषाओं में ही होती है न कि सर्वार्थ साधक संस्कृत में ॥ ६१–६६ ॥

मां सारभूतगिरमप्यवधूय लोके वैज्ञानिकाः कथमिमेऽत्र युगे भवेयुः ।
रम्यां प्रतिष्ठितगिरं पठितुं ह्यशक्ता भाषाशतं लिपिविभिन्नगतिं कथं ते ६७
काठिन्यमारोपयतीह कश्चित् सारल्यवत्यद्य हि संस्कृतेऽपि ।
अभ्यासराहित्यमिहास्ति हेतुः सर्वत्र काठिन्यमतिप्रसूतौ ॥६८॥
सहप्रयोगोऽपि विभक्तिनाम्नोरापाततः क्लेशकरो विभाति ।
सोऽल्पाक्षरैरर्थप्रतीतिहेतुरन्यत्र बह्वक्षरतस्तु सा स्यात् ॥६९॥
प्रयोजनाधिक्यवशेन संस्कृते काठिन्यमङ्गीकरणीयमन्यथा ।
अल्पव्ययप्राप्यमसूरभक्षणं त्यक्त्वा नरो भोजननकृत्कुतो भवेत् ॥७०॥
तुल्यं फलं यत्र विभिन्नकर्मणोस्तत्रैव कष्टं च विहाय मानवाः ।
कुर्युर्द्वितीयं सुलभं तदाश्रये महाफले कष्टमपि प्रकुर्वते ॥७१॥

द्राक्षापाकादधिकफलको नारिकेलादिपाकः
सर्वैरिष्टः खलु कविवरैः कष्टसाध्योऽप्यवर्ज्यः ।
एवं प्रान्तप्रथितवचसां सम्यगभ्यासतोऽपि
एकस्या मे वरमधिगमः कष्टसाध्योऽप्यहेयः ॥७२॥

स्वप्रान्तभाषाऽन्यजनस्य सर्वदा सर्वात्मना सा कठिनैव वर्तते ।
नाहं तथा किन्तु समैव भारत-प्रजासमूहस्य मतप्रबोधिका ॥७३॥
हिन्दुत्वमार्यत्वमथात्र जैनता श्रीभारतीयत्वतदीयसंस्कृती ।
विना हि गीर्वाणगिरं न सिध्यतः जना भवेयुर्हृदयेन वर्जिताः ॥७४॥

सारभूत संस्कृत को छोड़कर लोग इस युग में वैज्ञानिक कैसे होंगे, नियमबद्ध संस्कृत भाषा के पढ़ने में अशक्त पुरुष भिन्न-भिन्न लिपियों से युक्त अनेक भाषाओं को कैसे पढ़ सकेंगे। संस्कृत तो अति सरल है तो भी कोई उसमें कठिनता का आरोप करते हैं। सभी में कठिनता की बुद्धि के उत्पन्न होने में एकमात्र हेतु अभ्यास राहित्य ही है। प्रकृति और विभक्तिप्रत्यय का सहप्रयोग भी सामान्यतः कठिन मालूम पड़ने पर भी वह वस्तुतः कठिन नहीं और गृहे वने इत्यादि स्थलों में वह अल्पाक्षरों से ही अर्थबोध करवाता है। दूसरी भाषा में वही अर्थबोध घर में वन में इत्यादि तीन अक्षरों से होता है। यदि संस्कृत किसी को कठिन मालूम पड़ती भी हो तो भी इस में अधिक

प्रयोजन होने का कारण वह छोड़ने का नहीं है। इसलिये थोड़ा पैसा और अल्प प्रयत्न से साध्य मसूर (छोटे चने) भक्षण छोड़ कर लोग बहुत पैसे और महाप्रयास से साध्य भोजन बनाते है। जैसा द्राक्षपाक से नारिकेल (नारियल) पाक को कविलोग अधिक फलवाला मानते और वह कष्ट साध्य होने पर भी अवर्जनीय बताते हैं ऐसा ही सब प्रान्तीय भाषाओं के अध्ययन से भी हमारे एक का अध्ययन अधिक फल देनेवाला हैं। अतएव वह कष्टसाध्य होने पर भी त्यागने का नहीं। एक प्रान्त की भाषा दूसरे प्रान्तवालोंके लिए बहुत कठिन होती है, किन्तु मैं तो ऐसी नहीं समस्त भारतीयों के लिए मैं समान और उनके सिद्धान्तों का भी बोधन करने वाली हूं। हिन्दुत्व आर्यत्व, जैनत्व भारतीयता और उसकी संस्कृति भी संस्कृत के बिना सिद्ध नहीं होती है और जनता भी उसके छोड़ने पर हृदय रहित हो जाते है॥ ६७–७४॥

वैवाहिके कर्मणि जन्ममृत्यु-संस्कारकर्मस्वपि सर्वदैव।
वर्णाश्रमाचारसमस्तकृत्ये भवाम्यहं संस्कृतवाक् शरणम्॥७५॥
न कोऽपि हिन्द्याऽपरभाषया वा कर्माणि तानीह करोति मर्त्यः।
गतश्चाऽपि देवालयमास्तिकश्च संपूजयेत्संस्कृतभाषयैव॥७६॥
यो मां न जानाति पुरोहितेन सः प्रकारयेत्तां न तु देशभाषया।
असंस्कृतज्ञोऽपि सुमं समर्पये नमस्करोमीति वदेच्छिवं जनः॥७७॥

विवाह शुभ कार्य में जनन मरण संस्कारों में और वर्णाश्रम सम्बन्धि सब कार्यों में भी मैं ही लोगों की गति हूं। उन कार्यों को कोई भी हिन्दी या अन्य भाषा से नहीं करते और मन्दिरों में पूजा भी संस्कृत भाषा से ही की जाती है। संस्कृत को बिलकुल न जानने वाला भी 'पुष्पं समर्पयामि शिवं नमस्करोमि' कहता है न कि पुष्प दे रहा हूं॥ ७५–७७॥

इहाऽमुत्रामरवाक्समाश्रये सुखं लभेतात्मविमुक्तिमन्ततः।
इतः किमन्यज्जगति प्रयोजनं मनुष्यजन्माप्तवतोऽधिकं भवेत्॥७८॥
मुक्तिर्महावाक्यचतुष्टयोत्थित - स्वकीयजीवात्मस्वरूपबोधतः।
भवेन्न गोस्वामिनिबद्धपद्यकै र्न पोतनाख्यान्ध्रकवीन्द्रवर्णनैः॥७९॥

स संस्कृतज्ञानवतां भविष्यति न त्वन्यभाषाशतमप्यधीयतः ।
नापीषदेवेह च मां विजानतस्तस्माद्विधेया भुवि मेऽनिशार्यता ॥८०॥

संस्कृत के आश्रम में आने पर इह लोक और परलोक में सुख और अन्त में मुक्ति भी मिल सकती है। मनुष्यजन्म पाये हुए व्यक्ति के लिए इससे अधिक क्या प्रयोजन होगा। मुक्ति भी तत्त्वमस्यादि महावाक्यों के अर्थबोध से ही होती है, न कि गोस्वामी तुलसीदास के और पोतन कवि के पद्यों से॥७८-८०

यदि ह्यहं राष्ट्रवरेण्यशासक-प्रधानभाषा जनताऽपि बाल्यतः ।
अधीत्य मां वार्धकजीवने स्वयं स्वकीयसिद्धान्तगिरः पठिष्यति ॥८१॥
राष्ट्रस्य वित्तं न निरर्थकं बहु व्ययीक्रियेतापि मदन्यवृद्धये ।
हिन्द्यादिभाषामितरे स्ववित्ततःप्रवर्धयन्तामथवा त्यजन्तु ते ॥८२॥
मद्व्याप्तिवृद्ध्यर्थमपि व्ययो महान् पृथङ् न वित्तस्य विधेयतां व्रजेत् ।
शुल्कं प्रदायैव जनः पठिष्यति मद्राष्ट्रभाषात्व-मवेत्य तद्दिनात् ॥८३॥
विद्यार्थिनो मेऽपि महाधनव्ययैराचार्यपर्यन्तमपि प्रपाठिताः ।
निरर्थका जीवनवृत्तिदुर्लभाः क्रियन्त एतन्न भवेद्यं प्रभो ॥८४॥
मदन्यभाषा प्रभुसम्मता यदि तां जीविकार्थं प्रथमं पठेन्नरः ।
स वार्धके मामधिगन्तुमक्षमः कुर्यात्स्वजन्मापि निरर्थकं भुवि ॥८५॥
अध्यात्मजिज्ञासुमुमुक्षुसाधवो बाल्ये मदज्ञानवशेन यौवने ।
गीतामपि स्वीयगृहे सुखेन ते नाध्येतुमर्हन्ति ततोऽपि का व्यथा ॥८६॥
यथाऽऽङ्ग्लभाषामधिगत्य शैशवे तयैव कार्याणि कुटुम्बहेतवे ।
कृत्वा च मां शिक्षितुमक्षमो जन-स्त्वभारतीयो ह्यजनिष्ट तद्वशात् ॥८७॥
तथाऽपशब्दान्वितदेशभारतीमधीत्य निर्बन्धतया च मानवः ।
स्वसंस्कृतेः कारणसंस्कृतं त्यजन्न भारतीयोऽत्र सदा भविष्यति ॥८८॥

यदि मैं राष्ट्र के मुख्य अधिकारियों की भाषा रहूँगी तो जनता बाल्यकाल में मुझ को पढ़कर युवावस्था में मेरे द्वारा जीविका के सब कार्य करके, वृद्धावस्था में अपने सिद्धान्तग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता आदि पढ़ सकेंगे और उससे वे अपने जीवन को कृतार्थ कर सकेंगे। हिन्दी आदि दूसरी भाषाओं की

वृद्धि के लिए राष्ट्र धन का भी व्यय करना नहीं पड़ेगा और हमारी वृद्धि के लिये अलग धनव्यय नहीं करना पड़ेगा। मेरी राष्ट्रभाषा की बात सुनते ही लोग विद्यार्थी शुल्क देकर पढ़ेंगे। राष्ट्र के वित्त से शिक्षित हमारे (संस्कृत) विद्यार्थी भी इस समय निरुद्योग समस्या से जो बेकार रह जाते हैं, वे भी आगे ऐसे नहीं रहेंगे। यदि दूसरी भाषा होगी तो बाल्य काल में उसी को पढ़कर उसीसे सब कार्य करके वृद्धावस्था में मुझको पढ़ने में असमर्थ होकर परमार्थ की बातें भी स्वयं पढ़ न सकेंगे। इससे उनका जन्म भी निरर्थक होगा। परमार्थ जिज्ञासु मुमुक्षु और साधु सज्जन भी बचपन में संस्कृत न पढ़ने का कारण आगे वे भगवद्गीता को भी अपने घर में सुख से पढ़ न सकते हैं तो, इससे भी अधिक दुःख की बात क्या होगी। जैसे अंग्रेजी को पेट के वास्ते पढ़कर उसीके दीर्घ कालिक संस्कार से लोग अभारतीय (भारतीय संस्कार शून्य) हो जाते थे वैसा अपभ्रंश शब्द राशि से युक्त देशभाषा को सरकारी नियमके अनुसार अनिवार्य पढ़ कर अपनी संस्कृति के कारण संस्कृत भाषा को भी छोड़ कर हमेशा के लिये अभारतीय रह जायेंगे॥ ८१-८८॥

मातामहीव सदया निजमातृभाषाः पुष्णाम्यहं प्रतिदिनं निजशब्ददानात्।
नैतत्स्मरन्ति शिशवोऽद्य मदिष्टसेवां नेच्छन्ति कर्तुमपि नूनमिमे कृतघ्नाः।८९
सर्वोच्चराष्ट्रपतितोऽधमभृत्यवर्ग - पर्यन्तमप्यमरसंस्कृतवाक्पदानि ।
सम्बोधयन्ति सततं भुवि किन्तु देश-भाषापदानि मनुतेऽज्ञजनश्च तानि।९०
नवीनयन्त्रावयवादिबोधका न सन्ति शब्दा मयि संस्कृतेऽधुना।
पूर्वं हि मन्त्रादिबलात्प्रवर्तितं यन्त्रादिकं नावयवादियोगतः॥९१॥
सा मन्त्रशक्ति र्भुवि नास्ति साम्प्रतं शब्दार्थयोर-प्यनृतप्रभाषणात्।
शब्दानृतं भ्रान्तवचःप्रभाषणं वस्त्वन्यथाभाषणमर्थगोचरम्॥९२॥
कुमारिलेनापि हि तन्त्रवार्तिके प्रोक्तं च शब्दानृतमप्यशेषतः।
त्यक्तव्यमर्थानृतवत्सदा बुधैः सङ्कल्पमात्रेण महाफलेप्सुभिः॥९३॥
तदस्तु सम्प्रत्यनुवर्तितं यन्नवीनयन्त्रावयवादिशब्दः।
किं संस्कृतेऽन्यः परिकल्पनीयो भाषान्तरात्पूर्वतनग्रहो वा॥९४॥
शब्दान्तरं संस्कृतधातुभिर्यदि प्रकल्पितं चेन्न हि तत्सुबोधकम्।
तद्बोधनायापि पुनश्च कोष्ठके तत्प्राक्तनं नाम सदा गतिर्भवेत्॥९५॥

प्रतिदिन हमारी शब्द राशि को देकर मैं मातामही की तरह उनकी मातृभाषाओं का पोषण करती हूँ। आजकल के बचपन वाले हमारा यह उपकार को भी याद नहीं रखते हैं और हमारी सेवा भी करना नहीं चाहते हैं। अतः ये अवश्य कृतघ्न ही मालूम पड़ते हैं। सर्वोच्च राष्ट्रपति से लेकर नीचे भृत्यवर्ग तक के स्थानों के नाम सब, संस्कृत भाषा के पद ही हैं, किन्तु लोग उनको अज्ञानवश अपनी-अपनी भाषा के पद समझते हैं। आजकल के मोटर लारी और रेल इन्जन इत्यादि नवीन यन्त्रों के पदजाल संस्कृत में नहीं हैं। वे यन्त्र पहले मन्त्रबल से ही चलते थे न कि पुर्जों के योग से। वह मन्त्र शक्ति आजकल लुप्त हो गयी। उस का भी कारण शब्दानृत और अर्थानृत होते है। अपशब्दों से युक्त देशभाषाओं में बोलना शब्दानृत और विद्यमान वस्तु को अविद्यमान बताना अर्थानृत कहलाते हैं। कुमारिल भट्टने भी तन्त्रवार्तिक में कहा है कि जैसा अर्थानृत को छोड़ना आवश्यक है वैसा शब्दानृत को भी छोड़ देना आवश्यक है। वह बात तो यहाँ इतना ही रहने दें। अब नूतन यन्त्र और तदवयव पद जालों के स्थान पर संस्कृत के धातुओं से नूतन शब्द राशि बनवाना चाहिये या पूर्वसिद्ध शब्दों को ही संस्कृत में लेना चाहिये, इस पर विचार होगा। संस्कृत के धातु और प्रत्ययों से नूतन शब्दों के बनवाने पर वे सुबोधक नहीं रहेंगे और उनके बोध के लिये प्रकोष्ठ में फिर उन्हीं शब्दों को लिखना ही पड़ेगा ॥ ८९-९५ ॥

तस्मादिहार्यैः पिकनेमशब्दवन्म्लेच्छप्रयोगोऽप्यनुवर्तनीयः।
मीमांसकैरप्यनुमन्यते तच्छब्दार्थयोः कल्पनवर्ज्यभेदः ॥९६॥

पिकादिशब्दस्य न कल्पनीय-मर्थान्तरं किन्त्वबुधप्रसिद्धम्।
ग्राह्यं त्विति श्रौतनयप्रवीणा ब्रुवन्ति तत्रार्यनयाविरोधात् ॥९७॥

मया तु शब्दान्तरमत्र नूतनं न कल्पनीयं नवयन्त्रबोधकम्।
किन्तु प्रसिद्धं यदिहान्यकल्पितं तदेव सङ्ग्राह्यमिति प्रबोध्यते ॥९८॥

डित्थादिशब्दान् स्वसुतादिबोधने प्रयुज्यमानानितरेऽपि संस्कृते।
विभक्तिसंयोजनपूर्वकं बुधाः प्रयुञ्जते न त्विंतरान् प्रकुर्वते ॥९९॥

तथाऽत्र यन्त्रं सृजताऽपि नूतनं तद्बोधकं चापि पदं विनिर्मितम्।
तदेव चान्यैरविकारपूर्वकं प्रयुज्यतां संस्कृतवाचि साम्प्रतम् ॥१००॥

न ह्यत्र नामादिपदं तदन्ते वक्तव्यमावश्यकहेत्वभावात् ।
डित्थादिनामाऽयमिति प्रयोगो मास्त्वत्र डित्थोऽयमलं प्रयोगः ॥१०१॥
तथैव हिन्दीमिति सम्प्रयोज्यं हिन्द्याख्यभाषामिति मास्त्विहापि ।
भाषापदेनात्र समस्यमानं हिन्दीपदं नैव कुतो विभक्त्या ? ॥१०२॥
सुबन्तयोरेव समर्थयोरिह समस्यमानत्वमपीष्यते बुधैः ।
हिन्द्याख्यभाषामिति विग्रहे मते हिन्दी विभक्त्यर्हतयाऽपि सम्मता।१०३।
एवं च लारी-प्रमुखान्यपि प्रज्ञाः प्रयोक्तुमर्हन्ति पदानि संस्कृते ।
पदान्तराणां पृथगत्र कल्पने प्रान्तप्रभेदेन बहुत्वप्रकल्पनम् ॥१०४॥

अतः पिकनेमादि शब्दार्थ की तरह अशास्त्रज्ञों की शब्दार्थ प्रसिद्धि को भी लेना चाहिये । मीमांसकों को भी यह बात सम्मत है, किन्तु शब्द और अर्थ की कल्पना का छोड़ना ही भेद है। मीमांसक कहते हैं कि पिकनेमादि शब्दों का नया अर्थ कल्पना को आवश्यकता नहीं किन्तु पामर लोग जिस जिस अर्थ में उनका प्रयोग करते हैं उन्हीं अर्थों को मान लेना चाहिये । मैं कहता हूँ कि नूतन लारी मोटर इत्यादि यन्त्रों के लिये संस्कृत में नूतन शब्दों को कल्पना करने की आवश्यकता नहीं किन्तु प्रचिलित लारी इत्यादि शब्दों को ही संस्कृत में लिया जाय । पुत्र का बोध कराने के लिये पिता जो डित्थादि नाम रखता है उसी को ही लोग संस्कृत में विभक्ति के साथ डित्थेनोक्तम् डित्थादि रूप से प्रयोग करते हैं न कि नये शब्दों की कल्पना करते; वैसा मोटर इत्यादि नये नये यन्त्रों की सृष्टि कर्ताने उनको जो जा नाम रखखा था उन्हीं को ही लोग भी संस्कृत में प्रयोग करे न कि दूसरे शब्दों की कल्पना करने का प्रयास। उसके अन्त में नाम पद को जोड़कर 'डित्थनामाऽयं' इत्यादि रूप से बोलने को भी आवश्यकता नहीं 'डित्थोऽयम्' इतना कहना जैसा काफी है, वैसा ही हिन्दी लारी इत्यादि शब्दों को संस्कृत में प्रयोग करना चाहिये न कि हिन्दी भाषां लारी-यानम् इत्यादि रूप से। जब हिन्दोपद का भाषापद से समास होता है तो विभक्ति से सम्बन्ध क्यों नहीं होगा। वैयाकरण कहते हैं कि सुबन्त का सुबन्त से समास होता है। हिन्दो भाषा लारीयान इत्यादि समास मानने पर हिन्दो और लारीत्यादि शब्दों को भी सुबादिविभक्त्यर्हता सिद्ध हो जाता है। उनके स्थान पर संस्कृत में यदि दूसरे शब्द बनाये जायँगे तो भिन्न-भिन्न प्रान्त के लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार एकेक चोज के बहुत शब्दों का कल्पना करने लगेंगे ॥९६–१०४॥

२

तस्यार्थवत्वेन च पाणिनेः स्याद्विभक्तिसंयोजनयोग्यसंज्ञा ।
तस्माज्जनैः सप्तविभक्तियुक्त-तन्नामनिर्वाक्यमिह प्रयुज्यताम् ॥१०५॥
यदत्र शिष्टैरितरत्पदं नपि तदीयवाक्यं च न सम्प्रयुज्यते ।
तद्धीह तुच्छत्वधियैव केवलं तद्बोधके संस्कृतगे पदे सति ।१०६॥
लोके महापुरुषभाषितमल्पमर्त्याः संभाषणादिषु सदा समुदाहरन्ति ।
न त्वन्यभाषित मुपाददते महान्तस्तद्वत्स्वदेशपदसंस्कृतशब्दरीतिः । १०७॥

हिन्दी लारी इत्यादि शब्द भी अर्थवान होते हैं। अतः पाणिनि की प्रातिपदिक-संज्ञा भी रहेगी। अतः लोग उन नवीन पदों को संस्कृत विभक्ति लगाकर वाक्यों में प्रयोग करें। संस्कृत में दूसरी भाषा के शब्दों का प्रयोग न करने का जो शिष्टाचार है वह केवल तुच्छत्व बुद्धि से ही तदर्थकशब्द संस्कृत में रहने पर, ऐसा होता है। लोक में जैसा महापुरुषों के वाक्यों को उदाहरण के रूप में छोटे लोग लेते न कि छोटों के वाक्यों को बड़े, वैसा ही संस्कृत शब्द और देश भाषाशब्दों की प्रायः मर्यादा है॥ १०५—१०७ ॥

न चैतदप्यत्र विचिन्तनीयं डित्थादयो व्यक्तिविशेषसंज्ञाः ।
यन्त्रादयः सन्ति च जातिसंज्ञाः कथं तयोः साम्यमिति प्रवीणैः ॥१०८॥
सर्वत्र सादित्वमिहास्ति साम्यं तद्व्यक्तिजातिप्रतिपादकेषु ।
तस्मात्प्रयोज्याः सविभक्तिकास्ते तद्वस्तुभिश्चेद्भवति स्वलाभः ॥१०९॥
शक्तिभ्रमेणापि न ते प्रयुक्ताः किन्तु प्रकल्प्यैव नवीनशक्तिम् ।
नातोऽपशब्दत्वमपि प्रसक्तं तत्संस्कृतोच्चारणदोषजन्यम् ॥११०॥

यहाँ ऐसी शंका करना भी उचित नहीं कि डित्थादि शब्द, व्यक्ति विशेषों की संज्ञा होते हैं और लारी इत्यादि यन्त्रवाचक शब्द जातिवाचक होते हैं। अतः उनकी आपस में तुलना कैसी होगी अर्थात् डित्थादि शब्द विभक्ति योग्य होने पर भी लारीत्यादि शब्द विभिक्तियोग्य कैसे होंगे। उसका उत्तर यह है कि इस तरह के शब्दों में सादित्व ही साम्य है। अतः उसी साम्य से सभी शब्द विभक्ति योग्य ही हैं। लोगों को उन नयी चीजों से यदि प्रयोजन होता है तो उन्हीं नये शब्दों को ही प्रयोग करें। अपशब्दत्व प्रतीति भी उन शब्दों में नहीं होगी क्यों ? उन शब्दों में प्रथम प्रयोक्ता के द्वारा नयी शक्ति कल्पित की गयी थी। शक्ति भ्रम में जिन शब्दों का प्रयोग होता है उन्हीं में ही अपशब्दत्व

रहता है। वह शब्द भ्रम भी संस्कृत शब्दों के ठीक उच्चारण न करने के दोष से होता है न कि कल्पित शक्ति वाले शब्दों में ॥ १०८—११० ॥

प्रान्तीयभाषास्थ पदानि तान्यपि ग्राह्याणि यान्यत्र न सन्ति संस्कृते।
भाषान्तराद्वित्रि-पदप्रवेशतो न दूष्यते संस्कृतसागरः क्वचित् ॥१११॥
क्रियापदं भ्रान्तवचोविशेषतः संगृह्य तच्चात्र यदि प्रयुज्यते।
तदा विकारं जनयेन्मयि ध्रुवं नातस्तदङ्गीक्रियतां सदा बुधैः ॥११२॥
मत्तोऽपि नामानि जनाश्च गृह्णते भाषान्तरेऽपीह न तु क्रियापदम्।
नैवागता सा हि विकारमश्नुते क्रियापदेनैव विकारसंभवः ॥११३॥
एतावदङ्गीकरणे मयैव सर्वं जगत्कार्यमपि प्रसिध्येत्।
भाषान्तरैरस्ति न किञ्चदत्र प्रयोजनं देशविभाजकैर्भोः ॥११४॥
सर्वस्वनाशे हि विचक्षणास्त-दर्धं त्यजन्तीति भुवि प्रसिद्धम्।
नार्धस्य रक्षार्थमपीह मर्त्यः सर्वं त्यजेन्मूढतमोऽपि कश्चित् ॥११५॥

एवं प्रान्तीय भाषापदों का भी, जो संस्कृत में नहीं हैं, प्रयोग करना चाहिये। दूसरी भाषा से दो तीन पदों के लेने मात्र से संस्कृत रूप समुद्र दूषित नहीं होगा। दूसरी भाषा से क्रियापद लेने पर ही संस्कृत में विकार आ सकता है न कि नाम पद मात्र लेने पर। अतः लोग क्रिया पदों को न लेवें। संस्कृत से भी दूसरी भाषाओं में नाम पद ही लिये जाते हैं न कि क्रियापद। क्रियापद के लेने पर वे भी विकृत हो जायँगी। इतना मान लेने पर मुझ (संस्कृत) से हीं विश्व के सारे कार्य सिद्ध हो जाते हैं तो देशविभाजक दूसरी भाषाओं से क्या प्रयोजन है ? जहाँ सर्वस्व का नाश प्रसक्त होता है तो वहाँ पण्डित लोग आधा को छोड़कर बाकी को रक्षा करते हैं न कि आधा की रक्षा के लिए सर्वस्व का नाश मानते हैं। ऐसे मानने वाले मूर्ख ही होते हैं ॥ १११–११५ ॥

भाषेति नाम्ना द्विविधैव लोके वागुच्यते लौकिक वैदिकाख्या।
हिन्द्यादि शब्देन निगद्यमाना भाषैव न स्याद्भुवि किन्तु भासा ॥११६॥
यथैव सूर्यः परमात्मभासा स्याद्भास्करो न स्वयमेव तद्वत्।
गीर्वाणवाणीपदजालयोगाद्भाषापदार्हा भवतीह हिन्दी ॥११७॥

सर्वेषु कोशेष्वमरादिनामसु भाषापदेनाप्यहमेव संस्कृता।
प्रोक्ता न हिन्दी न च वाऽन्यदेशगाः कथं वराक्योऽद्य मदाह्वयं त्विषुः॥११८

भाषा दो प्रकार की रहती है, एक वैदिक संस्कृत और दूसरी लौकिक संस्कृत। यह विषय ('सर्वत्र विभाषा गोः' प्रत्यये भाषायां नित्यम्') पाणिन्यादि महर्षियों का भी सम्मत है। हिन्दी इत्यादि शब्दों से कही जाने वाली, भाषा नहीं किन्तु वह भासा ही है। जैसे सूर्य भी परमात्मा की भासा (प्रकाश) से ही भास्कर कहा जाता है न कि स्वतः, वैसा ही हिन्दी इत्यादि भी संस्कृत भाषा शब्दों के संयोग से ही भाषा कही जाती है न कि स्वतः। अमर कोश इत्यादि निघण्टु ग्रन्थों में भाषा शब्द से संस्कृत भाषा ही कही जाती है न कि हिन्दी न तो तेलुगु (आन्ध्री)॥ ११६–११८॥

आङ्ग्लेयाधिविदेशशिष्टिसमये देशीयराजादिभिः।
पुण्योपार्जनबुद्धिभिः स्वभवने सामान्यतो रक्षिता
किन्त्वेतेऽद्य पदच्युताः सकलराष्ट्रेऽधिपश्चैकलः
यद्यस्मान्न भवेत्सपुन्नतिरितः किं वा शरण्यं मम॥११९॥
त्यक्त्वा मां रुदतीं निराश्रयतया लोकाः प्रशंसापराः
प्रत्यब्दं बहुवित्तनाशकसभाः कुर्वन्ति किं तेन मे।
गेहे पीडितमातरं प्रति सुताः सेवां विहायादरम्
तच्छ्लाघास्तुतिकालयापनपरा मात्रे तु कुर्वन्ति किम्?॥१२०॥

अंग्रेजी शसन के समय में राजा और जमीन्दार लोग रहते थे। वे पुण्य बुद्धि से संस्कृत विद्यालयादि के द्वारा हमारी रक्षा करते थे। अब वे सब पदच्युत हो गये थे और उन सबके स्थान पर एक राष्ट्रपति आ गये हैं। अब इनके द्वारा हमारी रक्षा न होगी तो हमारी गति क्या होगी। आश्रय न होने का कारण रोती हुई मुझको छोड़कर लोग हमारे विषय में सभायें करके मेरी प्रशंसा बहुत करते रहते हैं। इससे हमारे लिये क्या उपकार होगा। घर में बीमारी से पड़ी हुई माता की सेवा न करके पुत्र, केवल उसको प्रशंसा मात्र करते रहेंगे तो माता का क्या उपकार होगा?॥ ११९–१२०॥

आन्ध्रादिदेशे मम पाठशाला आङ्ग्लीकृता प्राक्तनमन्त्रिवर्यैः।
गोमांसभक्ष्याक्रमणेऽपि काले नैतादृशी कष्टदशा ममासीत्॥१२१॥

बाराणसी-संस्कृत-पाठशाला हिन्दीकृताः साम्प्रतमन्त्रिवर्गैः ।
मदर्थनाम्ना हि समार्जितार्थः प्रयुज्यते प्राकृतवागिवृद्ध्यै ॥१२२॥
श्रीवेङ्कटेशोऽपि च भक्तवृन्दैः समर्पितं स्वीयधनं स्वपुर्याम् ।
पाश्चात्यभाषापरिपोषणार्थमङ्गीकरोत्यन्य-कथाहि का स्यात् ॥१२३॥

आन्ध्रादि प्रान्तों में हमारी पाठशालायें इंग्लीस मय की गयी हैं और बाराणसी की संस्कृत पाठशालायें सब हिन्दी मय की गयी हैं। दक्षिण में श्रीवेङ्कटेश्वर (बालाजी) भगवान् भी भक्त कोटि के द्वारा दिये गये धन को पाश्चात्य भाषा (बाद में कल्पित भाषा) की वृद्धि के लिए विनियोग कर रहें हैं तो दूसरों की बात ही क्या होगी ॥ १२१–१२३ ॥

श्रीविश्वसंस्कृतमहापरिषत्प्रमुख्याः कुर्वन्ति किं मम सभासु कृतासु यत्नैः।
नैतावताऽपि मुखतो मम राष्ट्रवाक्त्वमुच्चारयन्ति नगरीगतवीथिकासु।१२४।
साहित्य सम्मेलनकार्यदीक्षिताः मद्वृद्धिनाम्ना धनमार्जयन्ति ते ।
काञ्चित्सभां तत्र विधाय तद्धन-व्ययं प्रकुर्वन्ति ततोऽपि किं भवेत् ॥१२५॥
श्रीसार्वभौमहित-संस्कृतवाक्प्रचार-संसत्सभादिबहुडाम्बिकनामधेयाः।
संस्थापिताः सकलदेशम दीयवृध्द्यै तन्मुख्यहेतुमपि ता न गिरा वदन्ति।१२६
तन्मुख्यहेतुरिह संस्कृतराष्ट्रमुख्य-वाक्त्वं ततो हि निजवाञ्छित कार्यसिद्धिः।
अन्यन्तरेण मणिमंत्रविशेषतो वा संभाविताऽपिन भवेत्सुधियो विदन्तु१२७
त्रैमासिकी मासिकपत्रिका क्वचित्साप्ताहिकी संस्कृतमुख्यभाषया ।
चलन्ति मद्राष्ट्रवचस्त्ववाञ्छया किन्त्वद्य ता ह्यन्यदपि-ब्रुवन्त्यपि ॥१२८॥

विश्वसंस्कृतपरिषद वाले भी हमारे लिये क्या करते हैं। अभी तक वे शहरों की गल्लियों में संस्कृत राष्ट्रभाषा हो ऐसा नारा भी नहीं लगाते हैं। अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन वाले भी धनियों से पैसा इकट्ठा करते हैं और साल भर में कहीं एक सभा करके उसी में उसका व्यय करते रहते हैं। इससे हमारा क्या होगा? सब देशों में हमारे प्रचार के वास्ते सार्वभौम-संस्कृत-प्रचारक सभा इत्यादि लम्बे चौडे नामों से बहुत सी संस्थायें स्थापित की गयी हैं, किन्तु ऐसा प्रचार, मुझे जैसा स्थान मिलने पर होगा, उसपर कुछ बात भी वे नहीं करते। वह स्थान है भारत की राष्ट्रभाषा पद। उसके

मिलने पर ही उनका अभिलषित सार्वभौम संस्कृत प्रचार होगा न कि दूसरे प्रकार से या तो न मणिमन्त्रादि से, इस बात को वे हमेशा याद रक्खें। हमारी राष्ट्रभाषा के लिये ही संस्कृत में त्रैमासिक पत्रिकायें कहीं मास पत्रिकायें और कहीं-कहीं साप्ताहिक पत्रिकायें चलायी जाती हैं किन्तु वे भी आज कल अपना मुख्य विषय छोड़कर अन्य-अन्य विषयों का ही अधिक प्रकाशन करती हैं ।। १२४–१२८ ।।

संन्यासिनोऽप्युत्तमभारतस्थिताः सर्वं विसृज्यापि न मातृ-भाषिते।
त्यजन्ति रागं हि तया कथामपि प्रकुर्वते संस्कृतया गिरा न हि ॥१२९॥
आचार्यपर्यन्तमधीत्य संस्कृतं हिन्द्योपदेशः सुतरां न शोभते।
वेदान्तवार्ता हि तदीयभाषया प्रवर्तनीया खलु शिष्यतारकैः ॥१३०॥
मदीयविद्यालयपण्डिता ह्यपि स्वकीय-शिष्यान्निजपूज्यभाषया।
नाध्यापयन्तीह तदप्यतीव मे लोकेऽप्रचारादिनिदानमस्ति भोः ॥१३१॥
परस्परं संस्कृत-भाषणे सदा विद्याभिवृद्धिर्महती भविष्यति।
विद्यार्थिनोऽप्यत्र न दत्तदृष्टयः किमर्थमेते स्वगृहादिहागताः? ॥१३२॥
नाधीत्य सम्यक् समये च ते सदा, सच्छालकैर्व्यर्थविवादकारिणः।
ग्रन्थान्विलोक्यैव परीक्षणादिषु लिखन्ति विद्यार्थिन एव ते कथम्:? ॥१३३॥

पवित्र भारतदेश में रहने वाले सन्यासी लोग भी सब छोड़कर अपनी मातृभाषा में अनुराग छोड़ते नहीं हैं और उसी से ही वे कथा वार्ता करते रहते हैं न कि संस्कृत भाषा मे। आचार्य तक संस्कृत पढ़कर हिन्दी में उपदेश देना उनके लिये शोभा नहीं देता है। वेदान्तवार्ता तो वेदान्तों की भाषा से ही करना उचित है। हमारे विद्यालयों के पण्डित भी अपने शिष्यों को स्वपूज्य संस्कृत भाषा में पढ़ाते नहीं हैं। यह भी लोक में हमारा अप्रचार का एक कारण हो गया है। हमेशा संस्कृत में परस्पर भाषण करने पर विद्याभिवृद्धि बहुत हो होती है किन्तु विद्यार्थी लोग भी इस पर ध्यान नहीं देते हैं, तो ये क्यों अपने घर छोड़कर हमारे विद्यालयों में आये हैं? ।। १२९–१३३ ।।

श्रीभारतीयजनशासकमन्त्रिवर्याः कुर्वन्ति किं मम कृते हि निज प्रयत्नैः।
वित्तं मदीयमपहृत्य नृपालदत्तंमां नार्पयन्त्यथ सभासु वृथा स्तुवन्ति।१३४

ईदृक्सभान्ययनिमित्त समार्जितार्थं विद्यार्थिने मम हिताय हि चेत्प्रदद्युः।
मन्वीय तान् मदुपकारपरान् यथार्थं किन्त्वत्र कोऽपि न च मद्वचनं शृणोति १३५

ये त्वद्य हे वरद संस्कृतमेव राष्ट्र-भाषाऽस्त्विति प्रकथयन्त्वि तु मत्प्रसङ्गे ।
केन्द्रप्रदेशसचिवाश्च हि राज्यपालाः सर्वे विशेषकृतिमत्र न कुर्वते ते ।।१३६।।

केचिद्विशालहृदयाः प्रतिभाविशिष्टा-श्चान्येपि भाषणसभासु मदीयवृद्ध्यै।
व्याचक्षते च बहुधा निजभूमिभागे किन्त्वद्य यावदभिवृद्धिकृतिर्न दृष्टा।१३७।

केचिद्वराका अपि संस्कृतज्ञाः पदप्रलोभेन वदन्त्ययुक्तम् ।
द्विजिह्वतामप्यपरे प्रसङ्गात्प्रदर्शयन्त्येव महाकृतघ्नाः ।।१३८।।

हिन्दीं प्रपाठ्यात्मसुतादिपोषकाः स्वजीविकाभङ्गभयेन दक्षिणाः ।
मद्राष्ट्रभाषात्वमपि प्ररुन्धते स्वभातृमित्रात्महित-प्रभातुकाः ।।१३९।।

स्वतन्त्र भारतके शासक वर्ग भी हमारे लिये क्या करते हैं ? हमारे प्रचार के लिये राजाओं के द्वारा पहले रक्खे हुए फण्ड को भी वे उस काम में पूरा नहीं लगाते हैं और अन्तराष्ट्रिय सभा आदि करके उसमें हमारी व्यर्थ स्तुति करते रहते हैं। इस प्रकार की सभाओं के लिये जो धन विनियुक्त किया जाता है उसे संस्कृत विद्यार्थियों को यदि दिया जाता है तो भी मैं उनको अपने उपकारक समझ लेती, किन्तु हमारी इस बात को कोई सुनता हो नहीं। केन्द्र के ओर प्रान्तों के कुछ मन्त्रि वर्ग और कुछ राज्यपाल आदि भी, संस्कृत का प्रशङ्ग आनेपर, संस्कृत राष्ट्रभाषा हो ऐसा कहते तो हैं किन्तु इस पर वे विशेष प्रयत्न करते ही नहीं। कुछ विशाल हृदय और प्रतिभाशाली लोग सभाओं में भाषण करते हुए हमारी वृद्धि के लिये बहुत कहते रहते हैं किन्तु वे भी क्रियारूप से कुछ नहीं करते। कुछ संस्कृतज्ञ लोग भी सरकारी नीति का समर्थन करने पर अपना पद स्थिर रहेगा समझ कर हमारी वृद्धि की विरुद्ध बातें करते हैं। कुछ लोग तो द्विजिह्व होते है अर्थात् समयानुसार संस्कृत प्रेमी के सामने संस्कृत राष्ट्रभाषा हो कहते हैं और तद्विरोधि के सामने "संस्कृत राष्ट्रभाषा नहीं हो सकतो" कहते हैं। ये दोनों हमारी दृष्टि में बड़े कृतघ्न ही हैं। कुछ लोग, वे स्वयं अहिन्दो प्रान्त के होने पर भी कहीं-कहीं पाठशालाओं में हिन्दो पढ़ाते हुए संस्कृत राष्ट्रभाषा का विरोध करते हैं उनका यह डर है कि संस्कृत मुख्य भाषा होगी तो अपनो हिन्दो मास्टरो नहीं चलेगी। ऐसे लोग

सब, स्वमातृ भाषा और पितृभाषा संस्कृत और अपनी आत्मोन्नति के भी घातक होते हैं ॥ १३४–१३९ ॥

विद्यालयास्तु बहवो मम संस्कृतस्य वृध्यै कमात्रमभिलक्ष्य भुवि प्रवृत्ताः।
काश्यादिमोक्षनगरीषु विशेषतस्ते मद्वृध्युपायमपि ते न बहिर्वदन्ति ।१४०।
मद्राष्ट्रभाषात्वमनिच्छतां स्वको मद्वृद्धियत्नः सुतरां निरर्थकः ।
ते पाठशालादिकमात्मकीर्तये प्रवर्तयन्त्यन्यविडम्बनाय वा ॥१४१॥

भारत भर में बहुत सी विद्यालय संस्कृत वृद्धि को ही मुख्य ध्येय से स्थापित किये गये है। काशी आदि मोक्ष नगरों में तो विशेष रूप से वे स्थापित किये गये हैं किन्तु जिसके लिये वे स्थापित थे उस विषय को वे बिल्कुल कहते ही नहीं हैं। संस्कृत को राष्ट्रभाषा न चाहते हुए उसकी उन्नति के लिये जो लोग जितने अधिक प्रयत्न करते हैं वे सब व्यर्थ ही हैं। वे जो कुछ संस्कृत पाठशालादि चलाते है वह भी अपनी कीर्ति के लिये हैं या दूसरों का अनुकरण मात्र ही है ॥ १४०–१४१ ॥

वाराणसी-संस्कृतविश्वविद्या-लयोऽपि मद्वृद्धिमिषेण तूष्णीम् ।
प्रत्यब्दमेकैक - हिरण्यकोटिं स्वाहाकरोत्येव तथाऽप्यवृद्धिः ॥१४२॥
तत्रोत्तरप्रान्तजनप्रशासनं महावनं भक्षयतोऽपि वारणान् ।
सम्पोषयत्स्वल्प तृणाशिनस्त्वजान् मद्वर्धकान् रक्षितुमक्षमं बहून् ॥१४३॥
सहस्रशो वेतनधारिणो बहून् नियोजयत्स्वल्पधनाभिलाषिणः ।
विद्यार्थिनस्तत्र मिताल्पसंख्यया प्रवेशयत्यक्षमतां प्रकाश्य तत् ॥१४४॥
अध्येतृसंख्याऽधिकता हि संस्कृतं संवर्धयेत्सर्वहितैक-साधनम् ।
सञ्चालकाधिक्यवशेन साम्प्रतं मदर्थनिर्दिष्टधनं विनश्यति ॥१४५॥

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय भी हमारी वृद्धि के निमित्त से प्रति वर्ष करोड़ों रुपयें खा लेता है तो भी हमारी वृद्धि लोक में कुछ दीखती नहीं है। उत्तर-प्रदेश शासन उसमें महावन को भक्षण करने वाले हाथियों का पोषण करते हुए भी थोड़ा सा घास से तृप्त होने वाले बकरों को ज्यादा पालने में असमर्थ हो रहा है। वह हजारों रुपये वेतनवालों को अधिक संख्या में नियुक्त करता है और पन्द्रह या बीस रुपये छात्रवृत्ति वाले विद्यार्थियों को नियमित अल्पसंख्या में प्रवेश करता है। पढ़ने वालों की संख्या की अधिकता होने पर

ही संस्कृत की वृद्धि होती, न कि संचालकों की अधिकता से। उनकी अधिकता से हमारा धन का ही नाश होता है॥ १४२–१४५॥

तत्रानुसन्धान-विभागतोऽधिको व्ययो मदीयस्य धनस्य जायते।
एतैरनावश्यक-वित्तदुर्व्ययैः किं क्षीयमाणात्महितं भविष्यति ? ॥१४६॥

मुद्रापितग्रन्थसमूहवाचका न साम्प्रतं सन्ति किमर्थमद्यते।
मुद्रापणीया मम वित्तनाशतो विद्यार्थिसंख्यैव ततो विवर्ध्यताम् ॥१४७॥

विद्यार्थिनो नैव लिखन्त्यपूर्व-मत्रार्थमन्विष्य निजात्मबुद्ध्या।
इतस्ततः प्राक्तनशास्त्रराशेरुद्धृत्य चैकत्र विनिक्षिपन्ति ॥१४८॥

अपूर्वमप्यत्र तदेव यच्च मे समुन्नतेः सम्यगुपाय-लेखनम्।
जाति-प्रथास्थापनहेतुनिर्मित - स्मृत्यादिपूक्तप्रतिबन्धखण्डनम् ॥१४९॥

उसमें अनुसन्धान विभाग भी रक्खा गया है। उससे भी हमारे धन का बहुत व्यय होता है। इन अनावश्यक धनव्ययों से हमारे क्षीयमाण आत्मा का क्या हित होगा। छपी हुई ग्रन्थ राशिको पढ़ने वाले संस्कृतज्ञ जहाँ हैं ही नहीं वहाँ और भी अधिक ग्रन्थों के छपवाने की क्या आवश्यकता है! उस पैसे से विद्यार्थियों की संख्या ही बढाई जाय। उसमें विद्यार्थी भी स्वबुद्धि से अपूर्व अर्थ का अन्वेषण करके नहीं लिखते, किन्तु इधर उधर के प्राचीन ग्रन्थों से उद्धृत करके एक पुस्तक में रखते हैं। यहाँ लिखने का अपूर्व विषय भी यही है जो हमारी उन्नति के उपायों को खोजकर लिखना और जाति प्रथा समर्थक स्मृतियों में हमारे विकास के प्रतिबन्धक नियम जो लिखे गये हैं उनका खण्डन करना॥ १४६–१४९॥

अध्यापनं ब्राह्मणमात्र-कर्तृकं ब्राह्मण्यमप्यत्र हि जन्मनेति च।
स्मृत्यादिपूक्तं तदिहास्ति मामक-प्रवृद्धिमार्गे प्रतिबन्धकं महत् ॥१५०॥

अध्यापनेनोत्तमजीविकां जनः सुखेन सम्पादयितुं पठिष्यति।
तदेवचेत्सर्वजनस्य नेष्यते को वा पठेत्संस्कृतमात्मपोषकः ॥१५१॥

यः कोऽपि चेत्संस्कृत पण्डिताग्रणी-रध्यापयेद्भिन्न कुलोद्भवो जनान्।
तं काकदृष्ट्या प्रति विप्रतामतिः स्वकीयसम्पत्क्षति-कारकं यथा ॥१५२॥

स्त्रीशूद्रयोः पठनमेव निराकृतं तैः विप्रेतराः कलियुगे कथिताश्च शूद्राः।
शूद्रत्वमप्यखिल जन्तुवदेव नैजवंशादितो भवति जन्मपरम्परातः ॥१५३॥

वेदादिपाठे हृदयस्य भेदो जतुत्रपुभ्यामपि कर्णपूर्तिः ।
विद्याऽपि शूद्राधिगता श्वचर्म-निर्मितगोदुग्धसमेति प्रोक्तम् ॥१५४॥

उन स्मृतियों में कहा गया है कि अध्यापन ब्राह्मण ही कर सकता है, दूसरा नहीं और वह ब्राह्मणत्व भी जन्म सिद्ध बताया गया है। यह तो हमारी वृद्धि में बहुत ही बाधक हो रहा है। अध्यापन करके सुख से जीवन बिताने के लिये सब लोग अध्ययन में परिश्रम करते हैं। उसमें ही सब लोगों का अधिकार नहीं दिया जायगा तो सुखजीविकार्थी कौन संस्कृत पढ़ेगा ? उसमें भी यदि कोई अपने को भ्रान्ति से अब्राह्मण समझने वाला, संस्कृत को ठीक पढकर, अध्यापन करेगा तो यह ब्राह्मण समझने वाला, कौआ की तरह वक्र दृष्टि से उनको देखता है। स्त्री और शूद्रों का पढ़ना ही उन ग्रन्थों में निषिद्ध कर दिया गया है और कलियुग में ब्राह्मणेतर सब शूद्र कहे गये हैं और शूद्रत्व भी पशुत्वादि के समान जन्म सिद्ध माना गया है। वेद पढ़ने पर शूद्रों के हृदय का छेद बताया गया है और शूद्र के हृदय में रहने वाली विद्या को, कुत्ते के चमडे से निर्मित थैली में रखे हुए गो दुग्ध के समान बताया गया है। १५०–१५४॥

एतानि दुष्कृतवचांसि बुधैश्च यावन्निष्कासितानि न भवन्ति हि शास्त्रराशेः।
यद्वा श्रुतिस्मृतिसमीरित वर्णसिद्धिः स्वाभाविकात्मगुणजेति न यावदिष्टा१५५.

तावत्समस्तनिजभारत भूमिभागे मद्वृद्धिराष्ट्रभणितित्व कथा वृथैव ।
यावच्च संस्कृतगिरः प्रभुतेह नेष्टा तावत्स्वभारत हितप्रगतेर्न वार्ता ॥१५६॥

जातिप्रथासमभिवर्धकधूर्तराज-सञ्जल्पितैर्मम समृद्धि-निरोधवाक्यैः ।
धाराधरैरिव बजन्तुत चित्रभानुर्नीताऽजराऽहममराऽपि मृतप्रसिद्धिम् १५७.

शूद्रादिमानिजनबाहुलकं द्विषन्मां प्रान्तीयकल्पितवचः पठनानुरक्तम्।
स्त्रीजातिरात्महित साधकबुद्धिमार्गाद्दूरीकृता त्वितरथाऽननुवर्तिनीति १५८.

बध्वा यथाऽक्षियुगलं तुरगौ रथेन मर्त्यश्च योजयति गर्तनिपातभीत्या ।
स्त्रीशूद्रयोरपि तथा पठने स्वसेवां सम्यङ् न कुर्युरितिते ऽप्यरुधन् विदक्षि १५९.

मनुष्यलोके हि तदन्यजन्तवः सुखानुभूतेर्षु वि सन्तु वञ्चिताः।
मनुष्यजात्यन्तरवर्तिजन्तवो न वञ्चनीयाः स्वसमानजातिभिः ॥१६०॥

ऐसे पाप वाक्य सब उन-२ ग्रन्थों से जब तक बाहर न निकाले जायँगे या तो श्रुतिस्मृत्यादियों में बताये गये चार वर्णों की सिद्धिः स्वाभाविक गुणों से जब तक न मानी जायगी, तब तक भारत भर में हमारी वृद्धि और राष्ट्र भाषा की बात करना ही व्यर्थ है ! जब तक संस्कृत, भारत की राष्ट्रभाषा न मानी जायगी तब तक भारतदेश-प्रगति की वार्ता भी नहीं होगी। जाति मतभेदों को सुदृढ़ बनाने वाले धूर्तराजाओं के द्वारा कल्पित उन वाक्यों से, मेघों से सूर्य की तरह अजर और अमर मैं मृत भाषा समझी जाती हूँ। अपने को शूद्र समझने वाली जनता मुझको छोड़कर देशभाषाओं को पढ़ने लगी और स्त्री जाति तो आत्महित साधक वृद्धि मार्ग से बिल्कुल दूर की गयी। जैसा आदमी घोड़ों के आंख बन्द करके रथ खींचने के लिये लगाते हैं जिससे वे आदमी को गड्ढे में न गिरा सकें, वैसा ही स्त्रीशूद्रों का भी ज्ञान नेत्र बन्द किये गये जिससे वे जाति-वादियों के प्रतिकूल वाक्य न बोल सकें और उनकी सेवा भी निर्विरोध कर सकें। मनुष्य लोक में तदन्य प्राणी, भले ही सुखानुभूति से वंचित किये जाय किन्तु मनुष्य जाति प्राणि अपने समान जातियों के द्वारा वंचित किये जाना उचित नहीं है ॥ १५५–१६० ॥

लोके समादरविहीनसरस्वतीं मां भूदेवमानिजनताऽपि विहाय पश्चात्।
दारादिपोषणनिमित्तविभिन्नभाषा गत्यन्तरस्य विरहेण पठत्यजस्रम् १६१॥
एवं स्वनिर्मित-परार्थनिबद्धजाले कालेन दोषफलतः स्वयमेव बद्धा।
स्त्रीशूद्रसंस्कृत निवारकबन्धनैस्तैः स्वात्मीयसंस्कृतसुदूरपरिस्थितिर्हि १६२

सामान्य जनता के उपयोग से बाहर किये जाने का कारण जब मैं लोक में उपेक्षित कर दिया गया है तब से ब्राह्मण मानी लोग भी मुझको छोड़कर कुटुम्ब पोषण के लिये लाचार होकर संस्कृतेतर भाषाओं को ही पढ़ रहे हैं। इस प्रकार दूसरों को फसाने के लिये रचित जालों में उनके रचने वाले खुद ही फस गये हैं। अर्थात् स्त्री शूद्रों को संस्कृत से दूर रखने के वास्ते रचित नियम बन्धनों से स्वजातियों की भी संस्कृत से दूर हो जाने की परिस्थिति हो गयी है।

शूद्रस्य ब्राह्मणत्वादीनां जातित्वाभावेन-तदुपपदे मन्यतेः 'आत्ममाने खश्चेति (पा० ३।२।८३) सूत्रेणणिनि प्रत्यये शूद्रादिमानी भूदेवमानीत्यादि रूप सिद्धिः। न च 'सुप्यजातौणिनिस्ताच्छील्ये' (३।२।७८) इति सूत्रे 'अजातौ किं ब्राह्मणानामन्त्रयितेति 'ब्राह्मोऽजातौ इति सूत्रे 'अजातौ किं ब्राह्मण इति च प्रत्युदाहरणाभ्यां वैयाकरणमते ब्राह्मणत्वादीनां जातित्वोपगमात्तेषामजातित्वोक्तिरयुक्तेति वाच्यम् । जातिसाधकमानानां जातिलक्षणानां च मध्ये एकास्यापि मानस्य लक्षणस्य च विषयत्वाभावेन तेषां जातित्वासिद्धेः। अधिकं तु जात्युपाधिविवेक नामकग्रन्थादवगन्तव्यं सुधीभिरित्यलम् ॥ १६१–१६२॥

केचिन्तु जातिमतभेदनिरासका म-द्वृद्धिं निरुन्धति मदीयविवृद्धिभीत्या ।
ते चिन्तयन्ति यदिमेभुवि जातिभेदा निष्पद्य संस्कृतगिरोऽभिवृद्धिंतावश्च १६३
जातिप्रथां स्थिरतयाऽपि रिरक्षिषन्तो नेच्छन्ति मां सकलभारतराष्ट्रभाषाम्।
तत्त्वे हि संस्कृतमधीत्य समेऽस्मदिष्टांता नाशयेयुरिति बिभ्यतितेऽप्यलस्याम्
एतावता ह्युभयथाऽपि मदीयवृद्धेर्जाति प्रथा प्रबलशत्रुरवस्थिताऽद्य।
प्राज्ञैश्च सम्यगियमत्र विचारिता चे-द्विज्ञायते सकलवेदवचो-विरुद्धा।१६५
एतच सम्यगुपपादितमेव मान्यैः श्रीजात्युपाधि सुविवेक-विशालनाम्नि।
श्रीमन्महापरमहंसयतिप्रसिद्ध-चैतन्यलब्धपदमाधवभारतीभिः ॥१६६॥

जातिमतभेदों को मिटाने वाले भी कुछ लोग हमारी वृद्धि को रोकते हैं। उनका यह भय है कि संस्कृतवृद्धि से जातिमतभेदों की वृद्धि हो जायगी और जो लोग जाति प्रथा को स्थिर रूप से रक्षा करना चाहते हैं वे भी हमारी वृद्धि के मुख्य हेतु राष्ट्रभाषात्व नहीं चाहते हैं। उनका भी यह भय है कि संस्कृत राष्ट्रभाषा हो जायगी तो सब लोग उसे पढ़ेंगे और प्रमाण प्रमेयज्ञान प्राप्त करके यववराहाधिकरण-न्याय से वेदवाक्यों से ही उस प्रथा को मिटा देंगे। एतावता दोनों प्रकारों से जाति प्रथा हमारी वद्धि के मार्ग में प्रबल शत्रु के रूप में बैठी है। पण्डितों के द्वारा विचार करने पर मालूम पड़ता है कि यह जातिप्रथा सकलवेद विरुद्ध है। यह विषय भी जात्युपाधिविवेक नामक ग्रन्थ में श्रीमाधवचैतन्यभारती स्वामी जी के द्वारा उपपादित किया गया है॥ १६३–१६६॥

जातिप्रथायां यदि सत्यताभ्रम-स्तर्ह्यस्तु वैवाहिकभोजनादिषु ।
पार्थक्यमन्यत्र जनस्वभावतो ह्युच्चत्वनीचत्व-परिग्रहोऽस्तु भोः ॥१६७॥

वर्णप्रभेदो ह्यधुनोपयुज्यते विवाह-संयुक्त-भुजिक्रियादिषु ।
यः पूर्वमाम्नायविधि-प्रचोदितयागादिमात्रे स्म सदोपयुज्यते ॥१६८॥
यथा हि विप्रेषु विदेशवासिषु विवाहभुक्त्यादिषु जन्मतो भिदा ।
विद्यानुसारेण विशेषमान्यता न जन्मतोऽत्राप्यखिलेषु वर्तताम् ॥१६९॥
प्रान्तान्तरब्राह्मणकन्यकां द्विजा न गृह्णते भोजनमप्यथाऽपि ते ।
परस्परं स्वात्मगुणानुसारतो विशेषसन्मानमपि प्रकुर्वते ॥१७०॥
एवं श्रुतेरध्ययनादि योग्यता मुत्कृष्टतां चाप्यवरत्वमास्तिकाः ।
विद्यात्मशीलादिभिरेव नृष्वपि गृह्णन्तु संत्यज्य च जातिकुप्रथाम् ॥१७१॥
यदैवमन्नागमकोविदैः सदा संगृह्यते भारतसंस्कृतिस्तदा ।
सद्वृद्धिराध्यात्मिकशक्तिसाधनप्रचारबाहुल्यमपि प्रवर्धते ॥१७२॥
परस्परं भारतदेशवासिषु सदैकमत्यं श्रुतिशास्त्रकौशलम् ।
वेदोक्तकर्माचरणप्रवीणता राष्ट्रस्य सौभाग्यदशा च वर्धते ॥१७३॥
एतादृशं वैभवमीश्वरैषितं श्रुत्यादिमानैर्बहुधा समर्थितम् ।
त्यक्त्वा किमर्थं भुवि जातिकुप्रथा दुराग्रहैः काचिदिहेच्छति प्रजा ? ॥१७४॥
यावच्च केचिदिह मां निजजातिभाषां सञ्चिन्तयेयुरितरे मनुजाश्च तावत् ।
हष्ट्वा द्विषन्त्यत इतः परमत्र कोऽपि नैवं विचिन्तयतु संस्कृतवृद्धिकामः ॥१७५॥

जाति प्रथा में यदि किसी का सत्यत्व भ्रम हो तो वह जिनको अपने सजातीय समझता है उन्हीं से विवाह और भोजनादि व्यवहार आपस में करे और उच्चत्व नीचत्वादि को तो जनता के आत्मगुणों से ही समझे न कि जन्म से। इस समय में वर्ण भेद केवल प्रस्पर विवाह और भोजनादि में ही उपयुक्त किया जा रहा है जो पहले वेदविहितकर्मों में ही उपयुक्त किया जाता था। जैसे ब्राह्मण लोग विवाह भोजनादि सम्बन्ध अपने प्रान्त के ब्राह्मणों से ही करते न कि दूसरे प्रान्तवालों से किन्तु उत्तमत्वाधिमत्वादि को तो विद्या और आत्मगुणों के द्वारा ही समझते हैं, न कि जन्म परम्परा से, वैसा ही उत्कृष्टत्व और अपकृष्टत्वादि को भी विद्या और आत्म शीलादि से ही लोग मानें और पाखण्डजन प्रवर्तित जाति प्रथा को छोड दें। जब से लोग ऐसा मानेंगे तब से भारतीय संस्कृति और संस्कृत की वृद्धि, शास्त्रीय आध्यात्मिक साधनों

का और वेदों का अधिक प्रचार, देशवासियों में एकता और राष्ट्र की सौभाग्य दशा भी बढ़ जायगी। ईश्वर सम्मत और श्रुतिसमर्थित ऐसा महा वैभव को छोड़कर क्यों जाति कुप्रथा को कुछ जनता चाहती है। जब तक मुझ को कुछ लोग अपनी जाति की भाषा समझते हैं तबतक तदितर जनता रुष्ट होकर मेरे ऊपर द्वेष करती ही रहेगी। अतः संस्कृत की वृद्धि चाहने वाला कोई भी अब से मुझे अपनी जाति की ही भाषा न समझे ॥ १६७–१७५ ॥

जात्यादिवादिकृतसर्वजनोच्चनीच-भावादिभिर्भुवि गुणग्रहणं विनष्टम्।
भूदेवमानिजनजल्पितमेव सम्यक् बुद्धिमधीमदुदितं शुभमप्ययुक्तम् १७६॥
संन्यासिनोऽपि भुवि केचिदपास्तराग-द्वेषा अपि च परमात्मजर्ति दिशन्तः।
ग्रस्ताश्च जातिमतभेदपिशाचकैस्ते विश्वासिनं त्वनुगतं ह्यपि घातयन्ति १७७॥
मूर्खोऽपि सर्वविधदुर्गुणदूषितोऽपि स्त्रीलम्पटोऽपि भगवद्विमुखोऽपि जात्या।
श्रेष्ठत्वमात्मनि विचिन्त्य तिरस्करोति विद्यावतोऽपि भगवज्जनानुरक्तान्
मिथ्याभिमान-मदवृद्धि-विवेकहानि-वैषम्यवादजपरस्परवैरभावैः।
वैदेशिकाक्रमणशासनतश्च सर्व-स्वातन्त्र्यहानिरभवत्प्रियभारतस्य ॥१७९॥
वेदादिशास्त्रपठनस्य ततो विलोपात्तत्प्रोक्तकर्मसु जनो विगतप्रवृत्तिः।
एवं शनैर्मम परिस्थितिरीदृशीह जाता ततो भवति मे महतीयमार्तिः ।१८०॥

जनता में, जातिमत भेदवादियों के द्वारा कल्पित उच्च नीच भावों से देश भर में गुणग्रहण बिलकुल नष्ट हो गया और ब्राह्मण मानी मूर्ख भी जो कुछ बोलता है तो वही युक्त और तदितर बुद्धिमान भी कुछ कहा हो तो वह अयुक्त माना जाता है। प्रापंचक रागद्वेषादि शून्य संन्यासि लोग भी कुछ, जातिमत भेद पिशाचों से ग्रस्त होकर विश्वासघातक हो रहे हैं। मूर्ख सर्वविध दुर्गुणवाले और स्त्रीलोलुप भी अपने को जन्म से श्रेष्ठ मान कर ज्ञानियों का और ईश्वर भक्तों का भी तिरस्कार करते हैं। मिथ्याभिमान और मद की वृद्धि, विवेक हानि वैषम्यवाद और परस्पर वैरभावों से विदेशियों का आक्रमण हुआ और देश में सब प्रकार की परतन्त्रता भी आ गयी है। इन कारणों से वेदशास्त्रों का पठन-पाठन भी लुप्त हो गया और वेद विहित कर्मों में जनता की प्रवृत्ति भी नष्ट हो गयी है। इस प्रकार धीरे-धीरे हमारी प्ररिस्थिति भी शोचनीय हो गयी। इन्हीं कारणों से हम को बहुत यह आर्ति (कष्ट) हो रही है ॥ १७६–१८० ॥

ब्रह्मोवाच

हे देवि संस्कृतसरस्वति का तवेच्छा ब्रूहस्र तावकमनोरथपूरणाय ।
आङ्ग्लेयशासन-विमोचन सुप्रसङ्गे श्रीभारतावनिरिव कृतिं करिष्ये ।।१८१।।
स्वतन्त्रतामप्यहमेव भारत-श्रीमद्भुवे नातिचिराददापयम् ।
गान्ध्यादयस्तत्र निमित्तमात्रता वाञ्छा तदीयाऽपि शनैः प्रपूरिता ।।१८२।।
असंभवा सेति समैर्विचिन्तितं स्वतन्त्रतावादिजनोऽपमानितः ।
आङ्ग्लेयराजानुचरैस्सुदुर्मदै-रुपेक्षितो दीनवदेव सर्वदा ।।१८३।।
तथाप्यहं दुर्मदगर्वहारिणीं परिस्थितिं कल्पितवांश्च तादृशीम् ।
असंभवत्वेन विनिश्चिता पुरा सुसंभवैवाभवदद्य सा यथा ।।१८४।।
एवं तवेच्छाऽप्यविवेकिदृष्टिषु सुदुर्लभार्थेव विभातु साम्प्रतम् ।
त्वत्सेवकानप्यधिकारदुर्मदा हास्यास्पदत्वेन विलोकयन्त्वपि ।।१८५।।
इहाप्यहं सर्वकगर्वमर्दिनीं प्रकल्पयिष्यामि परिस्थितिं यथा ।
अधो मुखाः स्युः परिहासका जनास्तवाभिलाषोऽप्यचिरात्सुपेत्स्यति१८६।।

ब्रह्माजी बोले—हे सरस्वती देवि आप क्या चाहती हैं मुझे बताओ। मैं भी श्री भारत माता को अंग्रेज शासन से छुडवाने में जैसा प्रयत्न किया था वैसा ही आप के मनोरथ पूरण के लिये भी यथोचित प्रयत्न करूँगा। भारत माता की स्वतन्त्रता को भी मैंने ही थोड़े साल के पहले दिलवाया था। गान्धी जी वगैरे लोग उसमें निमित्त मात्र रहते थे। अन्त में उस की इच्छा भी पूर्ण हो गयी। सब लोग सोचते थे कि भारत की स्वतन्त्रता असम्भव ही है और स्वतन्त्रता चाहने वालों को वे परिहास भी करते थे। अंग्रेजी शासन के अधिकार वर्ग तो उन्हें बिलकुल निर्लक्ष्य भाव से देखते थे किन्तु मैंने ऐसी परिस्थिति को लाया था जिससे सब के मद गर्व भी नष्ट हो गया और असम्भव समझी जाने वाली स्वतन्त्रता भी सुसम्भव हो गयी थी। प्रकृत में आपकी इच्छा भी आज कल के अविवेकी लोगकी दृष्टि में भले ही निष्प्रयोजन मालूम पडें और वर्तमान शासन के अधिकारिवर्ग भी आपके सेवकों को अर्थात् संस्कृत राष्ट्रभाषा वादियों को भले ही हास्यास्पद समझ लें यहाँ भी मैं ऐसी परिस्थिति को लाऊँगा जिससे विरोधी लोगों को शिर

झुकाना पड़े और आप की शुभ कामना भी निकट भविष्य में पूर्ण हो सकें ॥ १८१-१८६ ॥

श्रीसंस्कृतवागुवाच

तैलिङ्गादिविभिन्ननामसु महाप्रान्तेषु तन्नामिकाः
भाषाः सन्तु समस्त भारतभुवि श्रीभारतीनाम्न्यहम् ।
भूयासं जनतन्त्रभूषणतया केन्द्रीयभाषापदे
गैर्वाणी सकलार्थसाधकमहावाणी मनोहारिणी ॥१८७॥
श्रीभारतीयजन संस्कृतिमुख्यरक्षां देवाधिदेवगिर आस्तिकलोकपुण्याम् ।
प्रान्तीयताज्वरविनाश महौषधीं मां कुर्वन्तु ते सपदि भारतमुख्य भाषाम् १८८॥
श्रीवेङ्कटेश धनमप्यधुना मदीय-वृद्ध्यै नियोज्य विसृजेत्स विभिन्न भाषाः ।
सर्वत्र भारतगताश्च समस्त विश्वविद्यालया झटिति संस्कृतवाङ्मया स्युः १८९
काश्यादिपत्तनगसंस्कृतपाठशालाः प्रान्तेषु मामकधनैश्च विवर्धमानाः ।
न्यक्कृत्य चाङ्ग्लवचनं सुतरां तु हिन्दीं मत्तो हि सर्वविषयानिह पाठयन्तु १९०
केन्द्रीयमन्त्रि निवहोऽपि च राज्यपालाःप्रान्तीयसर्व सचिवा धनिका नृपालाः ।
श्री भारतीयजनतन्त्रहितैककामाः सर्वेऽधुना सदसि संस्कृतमाश्रयन्ताम् १९१
राष्ट्रीयसङ्घ जनसङ्घ समाजवादा हिन्दूमहा समिति मुख्यजनाश्च सर्वे ।
श्रीरामराज्यपरिषत्प्रमुखास्तदन्ये कार्यालयेष्वपि च संस्कृतमाश्रयन्ताम् १९२
सर्वेऽपि संस्कृतमहापरिषत्प्रमुख्यास्ते पण्डिताः सुरगिरः कृपया प्रसन्नाः ।
विद्यार्थिनोऽप्यमरगीस्तनजं पिबन्तोभूयुः सदैव भुवि संस्कृतराष्ट्रवाक्त्वम् १९३

श्रीसंस्कृतवाणी बोली—तैलिङ्गा (आन्ध्र) दि महाप्रान्तों में उसी नाम-वाली भाषायें रहे समस्त भारत राष्ट्र में भारती नाम वाली मैं राष्ट्रभाषा के रूप में रहूँगी । भारतीय संस्कृति की रक्षक देवेन्द्रादि देवताओं की वाणी, आस्तिकजनता को पुण्य देने वाली, और प्रान्तीय भेद भावनाओं को मिटाने का मुख्य साधन, मुझ को वे शासक वर्ग तुरन्त भारत की राष्ट्रभाषा बनावें। श्री तिरुपति वेङ्कटेश्वर का धन भी केवल हमारी वृद्धि के लिये विनियुक्त किया जाय और भारत में रहने वाले सब विश्वविद्यालय संस्कृतमय हो जाय । काशी आदि शहरों में रहने वाली संस्कृत पाठशालायें, भीअंग्रेजी और हिन्दी को

छोड़ कर संस्कृत भाषा से ही सब विषयों कोप ढावें। केन्द्र के और प्रान्तों के सब मन्त्रिगण और राज्यपाल और धनिक वर्ग और स्वतन्त्र भारत का हित चाहने वाले सब अपने-अपने आफोसों और सभाओं में संस्कृत को ही आश्रय लेवें। राष्ट्रीय स्वयं सेवकसङ्घ, समाज वादी, हिन्दू महासभा और रामराज्य परिषद् वाले भी अपने-अपने कार्यालयों में संस्कृत से ही सब काम करें। संस्कृत प्रचारक संस्थावाले, संस्कृत पण्डित और विद्यार्थी संस्कृत राष्ट्रभाषा का ही समर्थन करते रहें॥ १८७-१९३ ॥

ब्रह्मोवाच

त्वामद्य कोऽपि निजभारतराष्ट्रनेता जानाति नैव कथमत्र भवेः प्रधाना।
ज्ञातैव भारतबहु प्रजया स्वभाषा कार्येति निश्चितमिह स्वहितैककामैः॥१९४॥

ब्रह्माजी बोले—भारत राष्ट्र के मुख्याधिकारियों में से कोई भी आपको बिलकुल नहीं जानते हैं तो आप कैसे यहाँ की राष्ट्रभाषा होगी, भारत के बहुसंख्याक जनता के द्वारा ज्ञात भाषा ही राष्ट्रभाषा हो सकती ऐसा वे लोग निर्णय किये हैं॥ १९४ ॥

श्रीसंस्कृतवागुवाच

मामद्य शासकजना न विदन्तु किन्तु तज्जास्तदन्वयसमुद्गतभावि मर्त्याः।
अन्येऽपि भारत भविष्यदशेषवंश्याः कुर्वन्तु संस्कृतमधीत्य समस्तकृत्यम्॥१९५
अद्यैव राष्ट्रभणितित्व सुघोषणाया-मेतद्धि सम्यगिह संभविताऽन्यथा न।
आङ्ग्लेयवाचमपि भारतवासिनश्च राष्ट्रप्रमुख्यभणितित्वमवेत्य पेठुः१९६
उच्चारणं पदतदक्षरसङ्घयोर्हि भिन्नं यदीयजननं च सुदूरराष्ट्रे।
तामप्यधीत्य शतशः शरदोऽपि याव-द्राजाज्ञयैवसकलं निरवर्तयँस्ते॥१९७॥

श्री संस्कृतवाणी बोली—आज कल के शासक वर्ग मुझको नहीं जाने किन्तु उनके पुत्र और आगे उनके वंश में पैदा होने वाले और दूसरे भी ऐसे लोग संस्कृत पढ़कर उसी से राष्ट्र के कार्य करें। यह बात भी, आज ही संस्कृत को राष्ट्रभाषा घोषित करने पर होगी नहीं तो नहीं। अंग्रेजी को भी भारत के लोग, राजभाषा घोषित होने के बाद ही पढ़ने लगे और उसके पहले नहीं। जिसके पद और अक्षरों का उच्चारण भिन्न-भिन्न है और जिसका जन्म भारत से बहुत दूर देशों में हुआ था, ऐसी अंग्रेजी भाषा को पढ़ कर यहाँ के

लोग सैकड़ों साल तक सब कार्य राजाज्ञा से ही किये थे। शासकों के आदेश होगा तो यहाँ भी संस्कृत वाणी को क्यों न पढेंगे ॥ १९५–१९७ ॥

प्रान्तीयभेद विनिवारणकामना चेद्भाषाऽपि देशगतभेद विवर्जितैव।
केन्द्रीयसद्मसु भवेदपरा न काऽपि तस्माद्भवेयमिह भारतराष्ट्रभाषा ॥१९८॥
सन्तान-बाहुल्यनियन्त्रणादपि भाषाबहुत्वस्य निवारणं क्षितौ।
अत्यन्तमावश्यकमस्ति साम्प्रतं तत्संभवेत्संस्कृतराष्ट्रभाषया ॥१९९॥

प्रान्तीयता और भाषावार प्रान्तों का झगडा मिटाने के लिये भी प्रान्तभेद रहित भाषा ही राष्ट्र के मुख्य आफीसों में रहना चाहिये। अत: यहाँ की राष्ट्र-भाषा मैं ही रहूँगी। आज कल परिवार (सन्तान) नियन्त्रण के लिये जो प्रयत्न चल रहे हैं उससे भी भाषाबाहुल्य का नियन्त्रण करना अत्यन्त आवश्यक है। वह नियन्त्रण भी संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाने पर ही होगा ॥ १९८–१९९ ॥

एतावता हि मतभेदपिशाचहेतोः राष्ट्रद्वयं त्वजनि भारतमेकराष्ट्रम्।
भाषाप्रभेदविषरोगविशेषवृद्धौ शिष्टं भवेदिदमितो बहुधाऽपि भिन्नम् ॥२००
तच्चोत्तरप्रान्तविषादकारणं यतो विदेशीयमहादुराक्रमाः।
इतः समायान्ति पुराणकालतो विभक्तराष्ट्रेण निवारणाक्षमाः ॥२०१॥
संयुक्तराष्ट्रं च तदैव शाश्वतं भवेद्यदा संस्कृतमेव राष्ट्रवाक्।
हिन्दीप्रिये राष्ट्रविभागवारणं न शक्यते प्रान्तविभागवद्ध्रुवम् ॥२०२॥
भाषाप्रभेदवशतो ह्यधुनाऽपि पाकि-स्थानं द्विधैव समभूदिह साक्षि विश्वम्।
युद्धेन शासनविरोधिजनक्षयाद्वा वङ्गे प्रवेशयितुमप्यशकत्स नोर्दुम् ॥२०३॥

अभी तक मतभेदों के कारण एक ही भारतराष्ट्र दो राष्ट्र (भारत और पाकिस्तान) बन गये हैं। अब भाषा भेदरूप विषरोग की वृद्धि होगी तो अवशिष्ट देश भी बहुत राष्ट्र बन जायेगा। यह तो उत्तर प्रदेश के लिये बहुत ही विषाद कारक है। क्यों? प्राचीनकाल से लेकर आज तक भी यहीं से (उत्तर दिशा से) ही विदेशी लोगों का युद्ध और आक्रमण आ रहे हैं जो राष्ट्र विभाजन होने पर एक छोटे राष्ट्र के द्वारा निवारित हो नहीं सकेंगे। संयुक्तराष्ट्र भी तभी शाश्वत रूप से रहेगा जब संस्कृत ही मुख्यभाषा हो। प्रान्त विभाजन को रोकना जैसा दुष्कर हो गया था वैसा ही राष्ट्रविभाजन को रोकना भी

दुष्कर हो जायेगा। भाषाभेद के कारण से ही पाकिस्तान भी दो राष्ट्र (पाकिस्न और बङ्गला देश) बन गये हैं। सारा विश्व ही इसका साक्षी हैं। युद्ध से शासन विरोधी जनता का नाश करके भी वह पाकिस्तान बङ्गला देश में उर्दू का प्रवेश कर नहीं सका ॥ २००–२०३ ॥

या त्वद्य हिन्दी जनतन्त्रभारते दुराग्रहेणैव समाश्रिता बलात्।
ततः सहस्रं गुणगौरवेऽधिका व्याप्ता परब्रह्मवदेव चास्मि भोः ॥२०४॥
आङ्ग्लेयभाषा परिवर्जने यो हेतुः स चात्रापि समस्ति हिन्द्याम्।
विभिन्नराष्ट्रप्रवचस्त्वमाङ्ग्ले भिन्नप्रदेशीयवचस्त्वमस्याम् ॥२०५॥

आज कल जो हिन्दो राष्ट्रभाषा मानी गयी है उससे मैं गौरवादि में हजारों गुण अधिक हूँ और परमात्मा की तरह सर्वव्यापक हूँ। अंग्रेजी को हटाने में जो हेतु है वही हिन्दी में भी है। अंग्रेजी भिन्नराष्ट्र की भाषा है और हिन्दी भिन्न-प्रान्त की है। समस्त भारतीयजनता की दृष्टि में भिन्नत्व दोनों में भी है संस्कृत में ही सबकी स्वकीयत्व बुद्धि है ॥ २०४–२०५ ॥

केनाप्ययुक्तेन निगद्यते यत् हिन्दी हि न प्रान्त विशेष-भाषा।
किन्तूत्तरप्रान्त-बिहारमध्य-प्रदेश भाषेति च नोक्तदोषः ॥२०६॥
प्रान्तत्रयेऽप्येकवचः स्थितिश्चेत्प्रान्तत्रयं तत्कथमत्र जातम्।
भाषाप्रभेदेन हि तत्प्रभेदो न भूप्रदेशस्थितहेतुना सः ॥२०७॥
प्रत्येकभाषाऽपि हि पार्श्ववर्ति-प्रान्तत्रये भाष्यत एव मर्त्यैः।
तस्मात्त्वदुक्त्या भुवि चैकभाषा नैकस्य देशस्य भविष्यतीह ॥२०८॥
आङ्ग्लेय भाषाऽपि च नैकराष्ट्रगा समस्तराष्ट्रेषु च भारतेऽपि हि।
प्रधानकार्येषु सदा प्रयुज्यते स तां कुतस्त्यक्तुमनाः प्रदृश्यते ॥२०९॥
यद्युच्यते सा न हि भारतस्य स्वकीय-भाषा भवतीति तर्हि।
हिन्दी कथं भारतदेशनैज-भाषा भवत्युर्दु विमिश्रितत्वात् ॥२१०॥
समस्तराष्ट्रप्रमुखाश्च भारत-स्वराष्ट्रभाषां भुवि मां हि मन्वते।
एते च हिन्दीमधुनैव मन्वते स्वराष्ट्रभाषां तु निजानुरागतः ॥२११॥

कोई कहता है कि हिन्दी एक प्रान्त की भाषा नहीं किन्तु वह उत्तर प्रदेश में पूरा और मध्यप्रदेश और बीहार में भी कुछ दूर तक बोली जाती है। अतः

उपरोक्त दोष नहीं हैं उसका उत्तर यह है कि एक भाषा तीन प्रान्तों में रही हो तो वे तीन प्रान्त कैसे हो गये। भाषा भेद से ही प्रान्त भेद माना गया है न कि तत्तद्भूभाग के विशेष चिन्हों से और प्रत्येक प्रान्तभाषा भी एक प्रान्त में ज्यादा और अगल-बगल के प्रान्तों में भी बहुत दूर तक बोली जाती है। अब कोई भी भाषा किसी एक प्रान्त की मानी नहीं जा सकती। अंग्रेजी भी एक राष्ट्र की नहीं हो सकती और वह विश्व के सब राष्ट्रों में और भारत में भी मुख्य कार्यों में उपयुक्त होती है, तो भी यहाँ वाले उसको छोड़ देना ही चाहते हैं। यदि यह कहा जाय कि वह भारत की नहीं किन्तु विदेशी है, तब हिन्दी कैसे स्वदेशी है। वह हमेशा उर्दू मिश्रित हो रहती है। समस्त राष्ट्रों के नेता और सामान्य जनता भी हमेशा संस्कृत को ही भारत की मुख्यभाषा समझते हैं तो ये आज हिन्दी को ही मुख्य भाषा मान रहे हैं॥ २०६–२११॥

सदा कुक्षिं पुष्णन् निजमतमनादृत्य पुरुषः
यथा पृष्टस्त्वन्यैर्वद तव मतं किं भवति भोः।
वदेत्सर्वः श्रौतं मतमिह सदा मामकमिति
न तु ब्रूयादन्यत्प्रचलितमतं कुक्षिभरणम्॥२१२॥
यथा तैलिङ्गादिं भणितिमविदाऽप्यथाङ्ग्लविदुषा
उदीच्यैः पृष्टेन स्वकमिह वचः किं कथय भोः।
निगद्येताऽऽङ्ग्लेण त्वनवगतभाषैव हि निजा
न चाङ्ग्लेया स्वीया निपुणतरमभ्यस्तविषया॥२१३॥
तथा गैर्वाणीं मामनधिगतमर्त्योऽपि च यदा
विदेशीयैः पृष्टस्तव भवति भाषा कथय का।
तदा स ब्रूयान्मां स्वकुल-गुरुगोत्रर्षिभणितिम्
स्वकीयां नीतिज्ञो न तु चरम-हिन्दीमधिगताम्॥२१४॥

जैसा अपने मत को छोड़ कर हमेशा पेट पालन करने वाले भी दूसरों के द्वारा मत पूछे जाने पर उत्तर देते हैं कि हमारा मत वैदिक या सनातन (हिन्दुमत) मत है, किन्तु ऐसा कभी बोलेंगे नहीं कि हमारा मत पेट पालना ही है। और जैसा अपनी मातृभाषा तेलुगु आदि को बिलकुल न जानने वाले और अंग्रेजी को अच्छी तरह जानने वाले भी, दूसरों के द्वारा ऐसा पूछा जाने

पर कि तुम्हारी निजी भाषा क्या है ? उत्तर देते हैं हमारी निजी तेलुगु (आन्ध्र) है न कि अंग्रेजी हमारी भाषा है। वैसा ही संस्कृत को बिलकुल न जानने वाले और हिन्दी को अच्छी तरह जानने वाले नीतिज्ञ पुरुषों को चाहिये कि निजी भाषा का प्रश्न होने पर, वे ऐसा कहे कि हमारी भाषा संस्कृत है न कि हिन्दी ॥ २१२–२१४ ॥

विभिन्नराष्ट्रप्रजया प्रवर्तितं हिन्दीपदं लिङ्गविभक्तयोऽपि च ।
विशेषणादिष्वपि भिन्नरीतय-स्तस्मादपीयं च विभिन्नराष्ट्रिया ॥२१५॥

न ह्यन्यदेशव्यवहारमात्रं विदेशभाषात्वनिमित्तमस्ति ।
किन्त्वन्यभाषानियमादिमत्त्व मप्यन्यदीयत्वनिदानमिष्टम् ॥२१६॥

स्वकीयभाषा सुतरामहं भो यत्रान्यभाषानियमाद्यभावः ।
यतोऽन्यभाषाः प्रगतिं लभन्ते सैवात्मभूता भवति स्वभाषा ॥२१७॥

हिन्दी हि भारतनिरन्तरदुष्टशत्रु-भाषाऽपशब्दबहुला त्वतिनिन्दितार्थात् ।
हिन्दू पदात्समुदभूदिह सर्ववेद-शास्त्रेतिहास सुपुराणगणेऽप्रसिद्धात् २१८॥

तैलिङ्गवङ्गमहराष्ट्रसुगूर्जरीय - कर्नाटक - द्रविडमैथिलदेशभाषाः ।
तत्तत्प्रदेशनिजनामभिरेव सर्व-शास्त्रेष्विहार्यजनतास्वपि सुप्रसिद्धाः ॥२१९॥

अने च हिन्दूपदमत्र हिन्दु-स्थानं न देशेऽपि पुराणसिद्धम् ।
तस्माच्च हिन्दीपदमप्ययुक्त-मार्यैः प्रयोक्तुं निगमाप्रसिद्धेः ॥२२०॥

हिन्दूपदं भीरुजनप्रबोधकं तस्मादिहार्येष्वरिभिः प्रचारितम् ।
इत्युक्तवानार्यसमाजकारकः स्वामी दयानन्द-सरस्वतीर्मुहुः ॥२२१॥

फैजाबुरादाहमदादबाद-शब्दा ह्ययोध्यादिपुरीः प्रवक्तुम् ।
यथा मुसल्मानसमये प्रयुक्ताः प्रचारिताश्चापि पुरा तथेदम् ॥२२२॥

मनुष्यसंख्यागणनाप्रसङ्गे हिन्दूपदं स्वात्मकुले न कोऽपि ।
लिखत्यपि त्वन्यदिहात्मवंश-प्रबोधकं चैव लिखेत्समस्तः ॥२२३॥

विद्यालयेष्वप्ययमेव पूर्व-परम्पराचार इह प्रसिद्धः ।
श्रीमालवीयोत्थितविश्वविद्यालये बहि हिंन्दुपदं हि नान्तः ॥२२४॥

हिन्दूमुसल्मान् प्रतियोगितायां हिन्दूपदं तैन निजप्रयत्नैः।
निक्षिप्तमासीद्बहिरेव नान्त - र्विद्यार्थिनामान्त्रयलेखनादौ ॥२२५॥

हिन्दी शब्द विदेशियों के द्वारा प्रवर्तित हिन्दु शब्द से निकला है और हिन्दी के लिङ्गविभक्ति विशेषणादि की मर्यादा भी उर्दू से आयी हैं। अतः यह भी विदेशी ही है। यहाँ कहना भी उचित नहीं होगा कि विदेशों में व्यवहृत होना ही विदेशीयत्व का हेतु, किन्तु विदेशीभाषा के नियमों से भरा रहना भी विदेशीयत्व का हेतु होता है। स्वकीय भाषा भी वही है जिसमें विदेशी भाषा के नियम बिलकुल नहीं रहते हों और जिससे दुनिया को उत्पन्न हों। ऐसी भाषा प्रकृत में मैं ही हूँ। हिन्दी भाषा भारत के निरन्तर शत्रु जो मुसल्मान हैं उनकी उर्दू भाषा के पदो से मिली रहती है और हिन्दीपद, अतिनिन्दित और श्रुतिस्मृतीतिहास पुराणादियों में कहीं भी न देखने वाले हिन्दुपद से निकला है। तैलिङ्ग (आन्ध्र) बङ्ग महाराष्ट्र गुर्जर (गुजरात) कर्नाटक, केरल द्राविड़ मैथिल उत्कल (ओरिसा) नेपाल और पञ्चनदी (पञ्जाब) इत्यादि नाम सब शास्त्रों में और इतिहासपुराणादियों में भी प्रसिद्ध हैं। अतः तत्तन्नाम-वाली भाषायें भी उन नामों के द्वारा सर्वपुराणादि प्रसिद्ध ही मानी जाती हैं, जनता में हिन्दुपद और देश में हिन्दुस्तान शब्द कहीं भी उन ग्रन्थों में प्रसिद्ध नहीं है। अतः उन ग्रन्थों को प्रमाण मानने वाली आर्यजनता के द्वारा हिन्दी-पद और हिन्दी भाषा भी बोलने की उचित नहीं है। हिन्दूपद भीरुजनता का बोधक है। अतः वह आर्यों में शत्रुओं के द्वारा प्रयुक्त है। ऐसा श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने कहा है। जैसा फैजाबाद इलाहाबाद और अहमदाबाद इत्यादि शब्द, अयोध्या और प्रयागादिनगरों शत्रुओं के द्वारा प्रयुक्त हैं वैसा ही हिन्दू शब्द भी उन्हीं के द्वारा आर्यों में प्रयुक्त है। दस साल के एक बार जो मनुष्य गणना आती है उस समय भी सब लोग, अपनी जाति के स्थान पर हिन्दु शब्द लिखते नहीं किन्तु ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-अग्रवाल नायुडु रेड्डि कायस्थ इत्यादि शब्द ही लिखते हैं। और विद्यालयों में भी यही रीति रिवाज है। श्री मालवीय के द्वारा स्थापित हिन्दू विश्वविद्यालय में भी बाहर ही, हिन्दु-मुसल्मानों की प्रतियोगिता में हिन्दू शब्द लिखा गया न कि भीतर विद्यार्थियों के रजिस्टर में। वहाँ अपना निजी जाति का नाम लिखा जाता है ॥२१५–२२५॥

प्रान्तीयभाषासुधियोऽपि भारते प्रायो विजानन्त्यपि मां हि कृत्स्नशः।
न वेत्ति यो मां सुतरां स मानवः स्वप्रान्तभाषामपि नावगच्छति ॥२२६॥

एवं च भारत भुवि प्रविदेश भाषाऽभिज्ञ प्रजाभ्य इह मामधिका विदन्ति ।
तां मे परिस्थितिमिमे नविदन्ति चाज्ञा जल्पन्ति केवलमिहाल्पजनैकवेद्याम् ॥२२७॥
अनादिकालादपि यावदेषमो विदेशराजप्रभुताादिनेष्वपि ।
श्रीसंस्कृताभ्यासि-परीक्षणादयः पाण्डित्य निर्णायक हेतवोऽभवन् ॥२२८॥
हिन्द्यां परीक्षा ह्यधुना प्रवर्तिता स्वातन्त्र्ययुद्धोत्तरमेव यत्नतः ।
सा प्रान्तभाषाऽप्यभवन्न कुत्र चित्कस्माद्कस्मात्सकलोपरि स्थितिः ॥२२९॥

प्रान्तभाषा के पण्डित भी संस्कृत को जानते ही हैं। जो संस्कृत को बिलकुल नहीं जानता है वह अपनी प्रान्तभाषा को भी पूरी तरह नहीं जान सकेगा। इस प्रकार अपनी प्रान्तभाषा के पण्डितों की संख्या से संस्कृत पण्डितों की संख्या अधिक ही है। हमारी इस परिस्थिति को न जानने वाले ही बकते हैं कि संस्कृत को सब लोग जानते नहीं। अनादि काल से आज तक भी संस्कृत में आचार्य शिरोमणि और शास्त्री इत्यादि परीक्षायें होती हैं हिन्दी परीक्षायें तो अभी स्वतन्त्रता संग्राम के बाद ही प्रारब्ध हैं। हिन्दी तो भारत में कहीं प्रान्तभाषा भी पहले नहीं रही है तो क्यों उसको एकदम सबसे उच्चस्थान दिया जा रहा है ॥ २२६–२२९ ॥

विहाय मां सम्प्रति विज्ञनिर्मिता पाठ्यप्रणाली बहुदोष-पूरिता ।
आश्रित्य मां मुख्यतया यदीह सा निर्मास्यते चेद्बहु शोभना भवेत् ॥२३०॥
यावच्च संस्कृत गिरो निजराष्ट्रवाक्त्वं नेच्छन्ति तावदिह तिष्ठति चाङ्ग्लभाषा ।
यर्ह्येव भारत मही स्थितसप्रमुख्य-स्थानेष्व हं समुचितस्थिति माप्नुवानि २३१
तर्ह्येव भारतसमस्तचतुर्थाचित्त-संक्रामदाङ्ग्लवचनव्यसनं विनश्येत् ।
तस्मात्तदाङ्ग्लमपसारयितुं लषन्तो मद्राष्ट्र गीस्त्वमचिरादिह घोषयन्तु २३२
आशा ममासीन्महतीह भारत-स्वातन्त्र्यलाभे त्वहमेव पूर्ववत् ।
स्वराष्ट्र भाषा भवितास्मि किन्त्विह ममास्ति पूर्वादधिकैव दुर्दशा ॥२३२॥
स्थानं तृतीयं मम पूर्वमासी - दांग्लेयराजप्रभुताादिनेषु ।
किन्तु स्वदेशीयजनप्रभुत्वे तदप्यपास्तं त्विह मे कुपुत्रैः ॥२३४॥
यावद्यदा क्षीणदशा हि मे भवेत्तावत्तदा भारतदेशदुस्थितिः ।
प्रजामतिभ्रंशमनोऽनवस्थितिदुर्भिक्षदौरात्म्यमपि प्रवर्धते ॥२३५॥

आज कल के राजनीतिज्ञों के द्वारा बनायी गयी पाठ्य-प्रणाली (परीक्ष-पुस्तक नियमावलि) भी, संस्कृत को छोड़ देने से, बहुत दोषों से भरी हुई हैं, संस्कृत को मुख्यरूप से लेने पर वह बहुत ही शोभन रहेगी। जब तक संस्कृत राष्ट्रभाषा नहीं मानी जायेगी तब तक अंग्रेजी यहाँ से हटेगी नहीं और जब से वह राष्ट्रभाषा मानी जायगी तब से भारतवासियों के हृदय में रहने वाला अंग्रेजी दुर्व्यसन बिलकुल नष्ट हो जायेगा। अतः अंग्रेजी को हटाने के इच्छुक सब संस्कृत को अविलम्ब राष्ट्रभाषा घोषित करें। पहले मेरी यह आशा थी कि भारत की स्वतन्त्रता मिलने पर पहले की तरह मैं ही राष्ट्रभाषा रहूँगी किन्तु अब पहले से भी ज्यादा दुर्दशा हो गयी है। विदेशी शासन के समय में हमारा स्थान तीसरा रहता था किन्तु स्वदेशी शासन आने के बाद हमारे कुपुत्रों ने उसको भी हटा दिये। जब २ जैसी २ क्षीण दशा हमारी होती तब वैसी २ भारत की दुस्थिति, जनता की वुद्धि भ्रंश और अकाल बढ़ता रहता है॥ २३०–२३५॥

हिन्दी विरोध शमनाय तदन्यभाषा भिन्न प्रदेशमनुजान् बहुलोभयित्वा।
अध्यापयन्ति च पुरस्कृतिदापनेन तत्सर्वथा समय वित्तवृथाऽव्ययो मे॥२३६॥
प्रान्तीयता प्रिय विनिर्मित तुच्छनाना-भाषाप्रभेदवशतोऽपि परस्परं यत्।
निर्हेतुकं कलहजातमपि प्रवृद्धं तेनापि लुप्तमिह देशजनैकमत्यम्॥२३७॥
मातुर्ममाध्यक्षपदे सुतानां तत्तत्प्रदेशोद्गतमातृवाचाम्।
तद्भाषिणां चापि सदैकमत्यं भवेदिहान्योन्यहितावहं तत्॥२३८॥
हिन्दी-प्रभुत्वं हि तदन्यवाचां सापत्नसाम्राज्यमिवास्त्यसह्यम्।
भिन्नप्रदेशस्थितमानवानां मातुः सपत्नीप्रभुतेव भाति॥२३९॥
वैषम्यमेवेतरदेशभाषया प्रजायते भारतराष्ट्रवासिषु।
तत्सर्वथा सर्वसमत्ववादिभिः स्वीकर्तुमप्यत्र न युज्यतेऽधुना॥२४०॥
केषां चिदेका निजमातृभाषा प्रान्तान्तरस्थान्यनृणां द्विभाषे।
राजाज्ञयाऽध्येयतया भवेतां वैषम्यमेतत्सुतरामसह्यम्॥२४१॥

हिन्दी विरोध को रोकने के लिये बहुत पुरस्कार और विशेष छात्रवृत्तियाँ देकर दक्षिणी भाषायें उत्तरी जनता को और पूर्व पश्चिम भाषायें दक्षिण जनता को, पढ़ाते हैं। इससे धन और विद्यार्थि समय के नाश के विना और कुछ

प्रयोजन नहीं है। प्रान्तीयता प्रेमी लोगों के द्वारा बनायी गयी भिन्न भिन्न भाषाओं के निमित्त जनता में जो परस्पर कलह पैदा हो गया है उससे लोगों में ऐकमत्य बिलकुल नष्ट हो गया है। भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा राष्ट्र का प्रधान (राष्ट्रभाषा) बन जायेगी तो पुत्रिकारूप देशभाषाओं में और उन भाषा भाषियों में एकता हो सकती है हिन्दी की प्रधानता, दूसरी भाषाओं के लिये सपत्नी साम्राज्य की तरह (सौतेली साम्राज्य) और उन भाषा भाषियों के लिये सौतेली माँ के साम्राज्य की तरह प्रतीत होती हैं। एक प्रान्त की भाषा प्रमुख होगी तो राष्ट्र की जनता में विषमता भी पैदा होगी जो आज कल की साम्यवाद नीति का विरुद्ध भी है। कुछ लोगों के लिये अनिवार्य भाषा एक ही हिन्दी होती और दूसरों के लिये दो भाषायें हिन्दी और अपनी मातृ भाषा अनिवार्य होती हैं। प्रान्तीय भाषाओं में विशेषज्ञान प्राप्ति के लिये भी जब संस्कृत का अध्ययन आवश्यक है तब बीच में इन भाषाओं की क्या आवश्यकता है। सब लोग मुझको ही पढ़ें ॥ २३६–२४१ ॥

धीन्यूनाधिकतारतम्यवशतो मर्त्ये महत्त्वाल्पते
वर्तेतेऽत्र धियो विवर्धकतया भाषाऽपि संतिष्ठते ।
सा चेद्देशनिवासिनां हि विषमा स्यात्सा महत्त्वादिके
वैषम्यं जनयेदतः समसमा भाषैव मुख्या भवेत् ॥२४२॥

यदीयभाषा निजराष्ट्रसम्मता स एव योग्यः प्रतियोगितादिषु ।
अभ्यर्थियोग्यत्व-परीक्षणादिषु पराजयोऽप्यन्यजनस्य जायते ॥२४३॥
तटस्थसंन्यासिजनस्य तादृशै रन्यायमार्गैं हृदयं विषीदति ।
तद्धानिभाजस्तु नरस्य मानसं कथं न सीदेत्प्रतियोगि-सन्निधौ ॥२४४॥

ज्ञान के न्यूनाधिक भाव से ही मनुष्यों में बडापन और छोटापन सिद्ध होते हैं : भाषा तो ज्ञान का साधन है। यदि वह भाषा देशवासियों के लिये विषमा अर्थात् कुछ लोगों के लिये स्वयं सिद्ध और दूसरों के लिये अभ्याससिद्ध होगी तो उन महत्व और अल्पत्व में भी विषमता पैदा करेगी अर्थात् एक देश के लोग बुद्धिमान् और दूसरे अल्पज्ञ समझे जायँगे। अतः सर्वसमान संस्कृत भाषा ही राष्ट्रभाषा होनी चाहिये। जिन की भाषा मुख्य होती है उन्हीं लोगों का ही प्रतियोगिता परीक्षादि में (इण्टर व्यू) विजय और दूसरों का पराजय होते हैं। इस प्रकार की अन्यायनीतियों से तटस्थ संन्यासि लोगों के

हृदय में कष्ट प्रतीत होता है तो उस पराजय से आर्थिक जीवन में कठिनायियों का अनुभव करनेवालों को कितना कष्ट होगा ॥ २४२–२४४ ॥

प्रान्तीयभाषास्वपि सुष्ठु बोध-सिद्ध्यर्थमध्येयतयाऽहमस्मि
मध्ये किमर्था गडुभूतभाषाः समस्तकार्यार्थमिहालमेका ।
श्वश्रू च मे भारतभूमिरेतद्वैषम्यहेतोर्बहु खिद्यतेऽपि
सा स्वात्मखेदस्य निमित्त-भूतानिच्छया धारयतीह श्वशुर् ॥२४५॥
केचिद्वदन्ति स्वहित प्रसाधका भाषा हि लोक-व्यवहार-वर्तिनी ।
कुत्रापि देशे न कदापि भाषिता न राष्ट्रभाषा जनतन्त्र-भारते ॥२४६॥
राष्ट्रे निवासिप्रजयाऽधिसंख्यया प्रभाष्यमाणैव हि राष्ट्रभारती ।
इत्युक्तवद्भ्यो ह्युचितं समुत्तरं ददामि शृण्वन्तु च ते विमत्सराः ॥२४७॥
कुत्रापि देशे न कदापि भाषणं कोऽप्यगच्छत्त्यबुधं विहाय भोः ।
दिवाऽपि सूर्यो न चकास्ति चेत्यपि विनाऽन्धमन्यो न हि वक्तुमर्हति २४७॥
अन्यस्तु मेघावरणेन कुत्रचित् सूर्यप्रकाशेऽप्यपरत्र तत्प्रभाम् ।
जानाति नत्वन्धवदेव सर्वतः स्तच्छून्यतां व्याहरतीह बुद्धिमान् ॥२४९
व्यासादि सर्व ऋषि तत्समयक्षितीशजन्मर्त्यनित्यगृह संव्यवहारभाषा।
का संस्कृतादपरवाणश्यभवत्प्रवक्तु किं शक्नुयुःकुटिलनीतिविशारदास्ते२५०
स्वकीयसज्ञानमिह प्रदर्शितं नैतावता संस्कृभाषि-शून्यता ।
प्रान्तेषु कालत्रय ईदृशी मम स्थितिर्विमूढा भृशं निजेच्छया ॥२५१॥

किसी प्रकार से अपना मतलब सिद्ध करने वाले कुछ लोग कहते हैं कि राष्ट्रभाषा वही होगी जो बोलचाल की हो। जो किसी भी देश में कभी भी न बोली जाती है वह जनतन्त्र देश की मुख्य भाषा न ही हो सकती। राष्ट्र की जनता अधिक संख्या में जिसको बोलती है वही राष्ट्रभाषा होगी। ऐसा कहने वालों को उचित उत्तर मैं यहाँ दे रही हूँ। संस्कृत भाषा, किसी देश में किसी समय में भी बोली नहीं जाती थी यह बात मूर्ख ही कह सकता है दूसरा नहीं। दिन में सूर्य दीखता नहीं है वह बात भी अन्ध के बिना दूसरा कह नहीं सकता। वह दूसरा कहीं मेघावरण से सूर्य की न दीखने पर भी दूसरे देश में उसका प्रकाश समझ लेता है न कि अन्ध की तरह सब देशों में हमेशा उसका

अभाव कहेगा। व्यासादि महर्षियों उस समय के राजाओं और प्रजा को भाषा संस्कृत के बिना दूसरी कौन रही थी। इस बात को आज कल के कूटराजनीतिज्ञ दोष क्या बता सकेंगे। संस्कृत कभी बोली नहीं जाती थी ऐसा कहने वाला अपने अज्ञान को ही प्रकाशित करता है। इतने मात्र से संस्कृतभाषियों को शून्यता सिद्ध नहीं होती। भारत के सभी प्रान्तों में और तीनों कालों में संस्कृत भाषी मौजूद हैं। हमारी इस परिस्थिति को न जानने वाले अपने इच्छानुसार कुछ भी बोले। यदि संस्कृत किसी एक प्रान्त की व्यावहारिक भाषा होती हो और उस हेतु से वह रास्ट्रभाषा मानी जाती है तो हिन्दी का तरह इसमें भी विवाद हो जायेगा ॥ २४५–२५१ ॥

क्वचित्प्रदेशे व्यवहारवर्तिना हिन्द्यामिवात्रापि विवाद-कारणम् ।
समस्तदेशव्यवहारवर्तिना कुत्रापि नास्तीह मनुष्य-भाषिते ॥२५२॥
आबालगोपाल-समस्त-भाष्या ग्रामीणभाषा न हि राष्ट्रभाषाः ।
अभ्यस्य सम्यग्भुवि भाष्यमाणाः सर्वेषु राष्ट्रेषु च राष्ट्रभाषाः ॥२५३॥
अभ्यस्य संभाषितभारतीषु मां राष्ट्रप्रदेश-स्थितमानवेषु हि ।
संभाषयन्त्यप्यधिकाः सभादिषु दृश्यन्पवेद्यत्वमिहोच्यते कथम् ।२५४॥

घरों में आबाल गोपाल तक बोली जाने वाली देहाती भाषा कहीं भी राजभाषा नहीं होती किन्तु व्याकरणादिनियमों के अनुसार जो ठीक पढ़ी जाती है वही ग्रान्थिक भाषा सब राष्ट्रों में मुख्यभाषा मानी जाती है। ठीक अभ्यास के बाद बोली जाने वाली भाषाओं में से मुझको ही राष्ट्र की जनता अधिक संख्या में बोलती है। देहाती हिन्दी को अधिक संख्या में जनता बोलती है किन्तु वह राष्ट्रभाषा के रूप में आज नहीं मानी गयी। जो आजकल राष्ट्रभाषा मानी गयी है वह संस्कृत मय हिन्दी, अधिक जनता के द्वारा बोली नहीं जाती है॥२५२–२४५॥

ग्रामीणहिन्दी बहुभिः प्रभाष्यते या राष्ट्रगीस्त्वेन न सम्मताऽधुना ।
या राष्ट्रगीस्त्वेन च सम्मता तु सा न राष्ट्रमत्यधिकसंख्ययोच्यते ॥२५५॥

गैर्वाणी चेद्भवति अनुमता भारते राष्ट्रभाषा
नित्याध्येया कठिननियमैः सैव सर्वैरिहेति ।
निश्चिन्वाना जनपदजना बिभ्यति भ्रान्तचित्ताः
नास्त्येवैतद्भयमपि यतश्चाङ्ग्लभाषावदेषा ॥२५६॥

प्रागाङ्ग्लेयाऽभवदखिलतद्भारते राजभाषा
तां ते त्यक्त्वा प्रतिदिननिज-स्थानकार्याण्यकुर्वन् ।
एवं ते मामपि जहतु तद्ग्रामकार्येषु नित्यम्
स्वप्रान्तीयां दधतु हृदये गेहकृत्यादिहेतोः ॥२५७॥

ये केन्द्रकार्याणि चिकीर्षवस्ते प्रधानमन्त्रि-प्रमुखा बुभूषवः ।
मामाङ्ग्लवत्सम्यगधीत्य कुर्वतां प्रान्तीयभाषां तु पठन्तु वा न वा ॥२५८॥

हिन्द्याः किमर्थाऽखिलदेशपाठ्यता विसृज्य लोकत्रयकार्यसाधिकाम् ।
प्रान्तेषु पारस्परिकानुबन्धनं मदीयमध्यस्थतयैव साध्यताम् ॥२५९॥

आज कल के साधारण लोगों का यह भय हो रहा है कि संस्कृत राष्ट्रभाषा बन जायेगी तो उस कठिन भाषा का पढ़ना हमको अनिवार्य हो जायेगा। किन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं है। अंग्रेजी की तरह इसका भी पढ़ने या छोड़ने में वे स्वतन्त्र ही रहेंगे। जैसा पहले अंग्रेजी यहाँ राजभाषा रहती थी, तो भी सामान्य जनता सब उसको छोड़कर अपनी ही देश भाषा से सब काम करते थे वैसा अब भी मुझको राष्ट्रभाषा बनाने पर भी वे मुझे छोड़कर अपनी भाषा से ही घरके और गाँव के सब काम कर सकेंगे। जो लोग केन्द्र के और प्रान्तों के प्रधान मन्त्री इत्यादि बनना चाहते हैं वे ही पहले अंग्रेजी की तरह अब मुझको पढ़ेंगे। तीनों लोकों की साधक भाषा छोड़कर, सब लोग हिन्दी को क्यों पढ़ रहे हैं। प्रान्तों में परस्पर सम्बन्ध भी हमारे माध्यम से भी हो सकता है। वर्तमान अधिकारिवर्ग मुझको पढ़ना नहीं चाहते हैं। अतः वे अपनी ही भाषा को सब के ऊपर लादने चाहते हैं ॥ २५५–२५९ ॥

मां वर्तमाना ह्यधिकारिवर्गा नाध्येतुमिच्छन्त्व इहापरेषु ।
स्वकीयभाषापठनादिभारं बलाद्विनिक्षेप्तुमिमे यतन्ते ॥२६०॥

हिन्दीप्रियाणामिह किं विनष्टं तदन्य भाषीयशिरस्सु हिन्द्याः ।
अभ्यासभारो यदि नैव दत्तः पवित्रभाषां यदि ते पठेयुः ॥२६१॥

अहिन्दी प्रान्तीय लोगों के शिर पर हिन्दी के न लादने पर हिन्दी प्रिय-जनता की क्या हानि होगी? सब लोग पवित्र संस्कृत को ही पढ़ेंगे तो भी उनका क्या कष्ट होगा? स्वाराज्य भाषा (परमेश्वर भाषा) ही स्वराज्य (अपना राज्य) की भाषा होगी, तो भी किसका क्या बिगड़ता है और किसी

की मातृभाषा ही सब प्रान्तोंमें मुख्य भाषा बनेगी तो भी उसका क्या सुख होगा ॥ २६०–२६१ ॥

स्वाराज्यभाषैव यदि स्वराज्य-भाषा भवेत्कस्य च किं विनश्येत् ।
स्वकीयभाषैव परत्र राज-भाषा भवेच्चेत्सुखमस्ति किं वा ॥२६२॥
हिन्दी परित्यागनिमित्तकूटे दृष्टिं न निक्षिप्य निजानुरागात् ।
आश्रित्य चैकं बहुभाषितत्वं तामेव गृह्णन्ति तदप्यसह्यम् ॥२६३॥
विहाय मद्ग्राहकसर्वहेतूनेकं समाश्रित्य तदप्यसत्यम् ।
त्यजन्त्यहो मूढतमत्वमेषां बृहस्पतेर्वर्णयितुं न शक्यम् ॥२६४॥
हिन्दी प्रचारे हि कथंचिदत्र जाते जनाश्चाङ्ग्लवदेव हिन्दीम् ।
समर्थयेयुर्भुवि सर्वदेति कुनीतयः केचन चिन्तयन्ति ॥२६५॥
तत्सर्वथा स्वप्नमनोरथो यथा मिथ्यैव वैषम्यमिहोपमानतः ।
आङ्ग्लेयवाक् सर्वसमा स्वभारत-प्रजासमूहस्य तथा न तद्वचः॥२६६॥
तस्माद्यथाऽऽङ्ग्लेयवचःप्रचारणात्परं तदीयाङ्ग्लविरोधधीस्तथा।
हिन्दीप्रचारे सति तद्विरोधक-प्रजामहाक्रान्तिरिहापि संभवेत् ॥२६७॥

हिन्दी के परित्याग करने में अर्थात् राष्ट्रभाषा न बनवाने में बहुत हेतु हैं, तो भी उन पर नेता लोग दृष्टि नहीं रखते और सिर्फ बहुभाषितत्त्व रूप एक हेतु को, जो विचार करने पर टिकता नहीं, लेकर हिन्दी को वे राष्ट्रभाषा मानते हैं। मुझे राष्ट्रभाषा बनवाने में समर्थक हेतु बहुत ही हैं तो भी उन सबको छोड़ कर, वे लोग, मुझको अल्पजन भाषित समझ कर छोड़ देना चाहते हैं तो, बृहस्पति भी इन लोगों के अज्ञान का वर्णन कर नहीं सकेगा। कुछ लोग अपनी विधवा पुत्रिका की तरह मुझे घरों में ही ढक कर रखना चाहते हैं तो भले ही वे वैसा चाहे, और कुछ हिन्दी प्रिय जनता हमारी प्रधानता को रोकना चाहती है तो वह वैसा ही चाहे, किन्तु जैसा भारतमाता की स्वतन्त्र होने की इच्छा क्रान्ति से पूर्ण हुई वैसा ही हमारी राष्ट्रभाषा होने की इच्छा भी बड़ी-क्रान्ति से पूर्ण होगी आप देख लेना कुछ लोग सोचते हैं कि सब प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार किसी न किसी प्रकार हो जायेगा तो लोग अंग्रेजी की तरह हिन्दी को भी अपनाने लगेंगे, किन्तु यह तो उनका स्वप्न मनोरथ मात्र ही है। अंग्रेजी भाषा सभी भारतवासियों को तुल्ययत्नसाध्य होती है। अतः राजाज्ञा

से उसका प्रचार होगा। हिन्दी तो वैसी नहीं। वह किसी को सरल और किसी को कठिन है। अतः जैसे अंग्रेजी के प्रचार हो जाने के बाद भी वे उसको यहाँ से हटा देना चाहते हैं, वैसा ही हिन्दी प्रचार हो जाने के बाद भी लोग उसे राष्ट्रभाषास्थान से हटाने के लिये महाक्रान्ति करेंगे। इस प्रकार राष्ट्रभाषा का बार बार बदलते रहने पर देश की वृद्धि भी क्या होगी। अतः ऐहिकामुष्मिक प्रयोजनकारिणी मैं ही स्थिर रूप से राष्ट्रभाषा के स्थान पर हमेशा के लिये रहूँगी ॥ २६२–२६७ ॥

मुहुर्मुहू राष्ट्रवचोनिवर्तने स्वदेशवृद्धिस्त्विह का भविष्यति।
तस्मादहं सर्वसमा त्विहापर-प्रयोजना राष्ट्रवचस्थले स्थिरा ॥२६८॥

केचिन्मां विधवासुतामिव गृहे वाञ्छन्तु नाभावृताम्
रुन्धन्त्वन्यजनाः स्वसिद्धिकृतयः प्रान्तीयभाषाप्रियाः।
श्रीमद्भारतमातुरार्तनिनदस्यातन्त्रकाङ्क्षा यथा
वाञ्छामेऽप्यचिरात्सुसेत्स्यति महाक्रान्त्यैव संदृश्यताम् ॥२६९॥

आङ्ग्लेयभाषादि समर्थनेच्छया हिन्दीविरोधस्तु मयाऽपि नेष्यते।
मद्राष्ट्रभाषात्वसुसाधनेच्छया चैतद्विरोधो हि भृशं प्रतुष्यते ॥२७०॥

शपाम्यहं तान् मम राष्ट्रभाषतां निरोद्धुमिच्छन्ति च ये नराधमाः।
तद्दुःस्वभावं यदि न त्यजन्ति ते तदा नृजन्मैव पुनर्न यान्त्विह ॥२७१॥

शृगालतां प्राप्य सदा श्मशान-भूमिष्वटन्त्वत्र बुभुक्षितास्ते।
मद्राष्ट्रभाषात्वविधारकाँस्तानाशीर्वचोभिर्मुदितान्विधास्ये ॥२७२॥

ते चायुरारोग्यधनादि-वृद्धिभिः स्वकीयवंशादि-समृद्धिमर्जनाः।
सुखं परत्रेह च शाश्वतं सदा सम्प्राप्नुयुर्मे हितमाचरिष्णवः ॥२७३॥

ताटस्थ्यमाश्रित्य च ये वसन्ति तेऽप्यत्र मत्कोपनिदानभूताः।
तस्मादुदासीनमतिं विहाय सर्वे मदर्थं सततं यतन्ताम् ॥२७४॥

जीवन्ति ये मत्कृपया सुखेन ताटस्थ्यभाजो यदि ते भवेयुः।
कृतघ्नतादोषवशेन नूनं क्लेशान् बहूनाप्नुयुरत्र पश्चात् ॥२७५॥

तस्माच्च तद्दोषनिवारणार्थं ते मत्कृपालब्धधनं मदर्थम्।
समर्पयन्तो मम राष्ट्रवाक्त्व-सम्पादने यत्नपरा भवन्तु ॥२७६॥

अंग्रेजी भाषा के समर्थकों का हिन्दी विरोध हमको भी पसन्द नहीं किन्तु संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनवाने के लिये जो हिन्दी विरोध है उससे मैं बहुत प्रसन्न रहती हूँ। जो मुझको राष्ट्रभाषा बनाने नहीं देते हैं उनको मैं कठिन शाप दूँगी। यदि वे लोग उस दुराग्रह को जल्दी नहीं छोड़ेंगे तो आगे वे कभी भी मनुष्य जन्म नहीं पावें और श्रृगाल (शियार) का जन्म पाकर हमेशा श्मशानों में भूख से घूमते रहे। मुझे जो राष्ट्रभाषा बनवाना चाहते हैं उनको मैं ऐसा आशीर्वाद देती हूँ जिससे वे आयुरारोग्यैश्वर्यादि सम्पदों की समृद्धि से हमेशा सुखी रहें। जो लोग तटस्थ रहना चाहते वे भी हमारे क्रोध का कारण ही बनते हैं अतः वे अपनी तटस्थता को छोड़कर हमारी राष्ट्रभाषा के लिये प्रयत्न करते रहें। जो हमारी कृपा से ही जीवन सुख से बिताते हैं ऐसे संस्कृत पण्डित और विद्यार्थी भी, हमारे इस इष्ट विषय में यदि तटस्थ रहेंगे तो मैं उनको कृतघ्न समझूँगी और उस कृतघ्नता दोष से वे आगे बहुत क्लेशों का अनुभव करेंगे। अतः वे उस दोष से यदि मुक्त होना चाहते हैं तो जल्दी से वे अपने धन-मन तनु सब, हमारी उन्नति के लिये समर्पण करें ॥ २६८-२७६ ॥

ब्रह्मोवाच

भद्रे त्वया नात्र विचिन्तनीयं कालानुसारेण हि कार्यसिद्धिः।
कालं प्रतीक्षस्व मयाऽपि यत्नः करिष्यते त्वत्प्रियकार्यसिद्ध्यै ॥२७७॥
त्वां दुस्थितेः सम्यगिहोद्दिधीर्षवः केचित्सदा यत्नपराः पुरादिषु।
त्व दिष्टसिद्धिं त्वपरे चिकीर्षवस्तपः प्रकुर्वन्ति च पुण्यभूमिषु ॥२७८॥
त्वदीयशापोऽपि मयाऽनुमोदितस्त्वत्कर्तृकाशीर्वचनं च सम्मतम्।
वाक्यं तवामोघमिहाऽस्तु सर्वथा तद्गोचरास्तत्फलमाप्नुयुर्जनाः ॥२७९॥
सूर्योदयास्तशिखरिस्पृशदाङ्ग्लभाषा-साम्राज्यमंतमगमत्किमुतापरस्याः।
श्रीसंस्कृताभिधसनातनदिव्यवाण्या-स्त्रैकालिकंसकलविश्वगमात्मवच२८०

ब्रह्माजी बोले

हे कल्याण कारिणि सरस्वती देवि तुम इस विषय में चिन्ता मत करो। समयानुसार सब काम होते रहते हैं। तुम समय की प्रतीक्षा करो। मैं भी तुम्हारी इच्छा पूर्ति के लिये प्रयत्न करूँगा। कुछ लोग बड़े बड़े शहरों में तुम्हारे उद्धार के लिये हमेशा प्रयत्न कर रहे हैं और कुछ लोग तुम्हारे इष्टसिद्धि के लिये पुण्य क्षेत्रों में तपस्या कर रहे हैं। मैं तुम्हारे शापों और आशीर्वादों का

समर्थन भी करता हूँ। अतः जो जो उनके विषय होते हैं वे उन उन फलों के भागी हो जायेंगे। उदयगिरि से लेकर अस्तगिरि तक व्याप्त अंग्रेजी भाषा का साम्राज्य भी समाप्त हो गया है तो दूसरी भाषा के बारे में क्या कहना होगा। सनातन संस्कृत वाणी का साम्राज्य तो परमात्मा की तरह त्रिकालाबाध्य और विश्वव्याप्त भी है नये नये मन्त्री आदि के आने के बाद राष्ट्र की नीति भी धीरे धीरे बदल जायेगी और वैषम्य रहित भाषादि की भी योजनायें होने लगेंगी ॥ २७७–२८० ॥

राष्ट्रस्य नीतिः परिवर्तते क्रमान्नवीन-मन्त्र्यादि-समागमे सति।
ततः शनैः सर्वहितैकयोजना यया विनश्येद्विषमा परिस्थितिः ॥२८१॥
स्वातन्त्र्यसम्पादक-मुख्यमन्त्रिणः प्रायो हि नेहरूप्रमुखा निरङ्कुशाः।
मनुष्यबाहुल्यमतं निरस्य ते स्वेच्छानुसारेण महीमपालयन् ॥२८२॥
प्रायोपवेशादिबहु-प्रकारतो विद्वज्जनैर्भारत-सर्व-साधुभिः।
तेऽभ्यर्थितामप्यसकृद्यतीश्वरैर्गोमातृहत्यामपि न न्यवर्तयन् ॥२८३॥
ते चिन्तयन्ति स्म वयं हि भारत-स्वातन्त्र्यसङ्ग्राममुमुख्यनायकाः।
अतोऽस्मदिच्छामनुसृत्य शासनं सञ्चालयामोऽद्य विनाऽन्यसम्मतिम् २८४
अनन्तरायातवरेण्यमन्त्रिणो दृश्यन्त ईषत्सरला हितैषिणः।
एवं क्रमेणागतमुख्यमन्त्रिषु ततोऽपि सारल्यमिह तत्त्वार्हित् ॥२८५॥

भारत को स्वतन्त्र बनाने वाले नेहरू इत्यादि कुछ प्रमुख नेतागण प्रायः निरङ्कुश रहते थे और जन बहुमत को न मान कर वे अपनी इच्छानुसार शासन करते थे। भारत के कितने विद्वान् साधुमण्डलि वाले और प्रसिद्ध संन्यासी लोग भी अनशनव्रत और सत्याग्रहादि के द्वारा गोहत्या को बन्द करने के लिये आग्रह किये थे तो भी वे नेता लोग उसको बन्द नहीं किये। वे सोचते थे कि हम ही भारत को स्वतन्त्र बनाये हैं। अतः हमारी इच्छानुसार उसे चलायेंगे। बाद में आये हुए प्रधान मन्त्री, आदि पहले मन्त्रियों से कुछ सरल हैं और इसी प्रकार आगे आने वाले भी इनसे बहुत सरल ही होंगे और वे आपकी इच्छा पूर्ण करेंगे। जब केन्द्र के प्रधान मन्त्री अहिन्दी प्रान्तीय होगा तब हिन्दी प्रियत्व उसमें नहीं रहेगा और आपकी प्रगति में रुकावट डालने वाला भी नहीं रहेगा ॥ २८१–२८५ ॥

यदा प्रधानः सचिवो विभिन्न-प्रान्तीय आयास्यति केन्द्रमुख्यः ।
हिन्दीप्रियत्वादिकमत्र न स्यात्त्वद्राष्ट्रभाषात्वमपि प्रक्षिप्येत् ॥२८६॥

राष्ट्रप्रशास्तृत्वमपि स्थिराणां युक्तं हि तत्सर्वहितावहं च ।
नित्यं तु वातेरितमानसानामनर्थकं तत्स्वपरप्रजानाम् ॥२८७॥

क्वचिदिह जनसङ्घे साम्यवादे कदाचित्प्रविशति च पुराणे कांग्रसेवा नवीने
तदपि नलभते चेद्रामराज्ये विशेत्स अतिचपलमतीनांका भवेद्राजनीतिः २८८

जनमतगणनादावेकसङ्घे प्रविश्य ह्यमिलपति तदभ्यर्थित्वमर्थव्ययेन ।
प्रतिनिधिरपि स स्यादेवसर्वप्रयत्नैःकथमपिपदलोभो वेत्ति कांराजनीतिम् २८९

स्वभारतस्थान् बहुवञ्चयित्वा प्रधानमन्त्रि - प्रमुखाः परत्र ।
विभिन्नराष्ट्रेषु विशालकीर्तिसम्पादने सर्वविधप्रयत्नाः ॥२९०॥

पाश्चात्यराष्ट्रस्थितनीतिमाश्रिताः सहस्रशो वेतनमत्र गृह्णते ।
तदीयतत्स्वार्थकुनीति - हेतुभिर्जना महान्दोलनमाचरन्त्यपि ॥२९१॥

दृष्टिं च सामान्यजनार्थिकस्थितौ न निक्षिपन्तो हि करादिकं मुहुः ।
संवर्धयन्त्यत्र न तु स्ववेतन-ह्रासं प्रकुर्वन्ति निजोदरेक्षणाः ॥२९२॥

राष्ट्र का नेतृत्व भी स्थिरचित्तवालों का ही उचित और वह सर्वहित कारक भी होता है। हमेशा हवा की तरह चपलचित्तवालों के लिये वह अनर्थकारि हो जाता है। कभी जनसंघ में कभी कम्यूनिष्ट पार्टी में कभी पुराण कांग्रेस में और कभी नवीन कांग्रेस में, कभी वहाँ भी स्थान न मिलने पर, रामराज्य परिषद् में प्रविष्ट होकर चुनाव में खडे होने वाले अतिचपलचित्त वालों की राजनीति कैसी होगी। भारतीय जनता को सब प्रकारों से वंचित करके यहाँ के प्रधान मन्त्री इत्यादि लोग दूसरे राष्ट्रों में अपनी विशाल हृदयता का नाम कमाने के लिये निरन्तर प्रयत्न करते हैं। पाश्चात्यनीति को आदर्श बनवा कर वे हजारों रुपये वेतन लेते हैं और सामान्य जनता की आर्थिक स्थिति को न समझ कर वे बार बार कर और टैक्स इत्यादि बढ़ाते रहते हैं और अपने वेतन में कमी नहीं करते। इन्हीं स्वार्थनीतियों के कारण लोग बीच-बीच में हड़ताल इत्यादि भी करते रहते हैं॥ २८६–२९२॥

चोरानिहोत्कोचकरांश्च दोषिणो न दण्डयन्त्येव बहिर्गतानपि ।
ते चिन्तयन्त्यत्र वयं च तादृशा दण्डं विधातुं भुवि शक्नुमः कथम् ॥२९३॥
भ्रष्टाचारनिवारणार्थमिह तत्संस्थाः पुनस्थापिताः ।
किन्त्वेतास्वपि नैव तद्विरहिता संभाव्यते साम्प्रतम् ॥२९४॥
यत्कार्यार्थमतिव्ययैर्जगति यत्संस्थाप्यते यत्नतः ।
तत्तत्रैव न चेन्निरर्थकमहावित्तव्ययापादकम् ॥२९५॥
ये दुर्बलानेव सदा सुरक्षितुं नियोजिता राजभटाः पुरादिषु ।
ते साम्प्रतं वित्तदपक्षमाश्रिताः हिं सन्ति चान्यान् यमकिङ्करा इव ॥२९६॥
दरिद्ररोगार्तिविनाशहेतवे संस्थापिता ह्यत्र महौषधालयाः ।
सहस्रशो वेतनवद्भिषग्जना नियोजिता दीनजनावनाय हि ॥२९७॥
किन्त्वेषु तेभ्यश्च जलं प्रदाय ते मूल्यौषधान्यर्थदभाग्यशालिने ।
तत्रस्थवैद्या हि सदोपयुञ्जते न कोऽपि चान्याय्यमिदं निरीक्षते ॥२९८॥
एतादृशैः शासननीति दूषकैस्त्वराजकत्वं भुवि संजनिष्यते ।
तन्नाशयेच्छासनसुव्यवस्थितिं पुनः पराधीनगतिर्विशङ्क्यते ॥२९९॥
केचिन्महामूढजनाश्च मन्वते पापानि बुद्ध्याऽपि कृतानि पुण्यतः ।
नश्येयुरित्यल्पवृषं विधाय ते पापानि घोराण्यपि कुर्वते भ्रमात् ॥३००॥
अबुद्धितः पादकरादिभिर्भृशं प्रताडितोऽपि क्षमते नरः परैः ।
ज्ञात्वा तथा ताडित ईषदप्यसौ दण्डं विदध्यात्त्रिगुणीकृतं यथा ॥३०१॥
तथा प्रमादाचरिताघमीश्वरः क्षमेत पश्चात्परिहार-कर्मभिः ।
न जातु बुद्ध्या कृतदुष्कृतानि स क्षन्तुं प्रभुर्दुःखफलार्पणं विना ॥३०२॥

चोरी और घूसखोरी व्यक्त हो जाने के बाद भी उन को उच्च अधिकारी दण्ड नहीं देते हैं। वे सोचते हैं कि हम भी ऐसे ही तो हैं दूसरों को कैसे दण्ड दें। भ्रष्टाचार निवारण के लिए जो संघ स्थापित किये गये हैं उनमें भी भ्रष्टाचार शून्यता नहीं दीखती। जिस काम के लिये जो बहुत धन के व्यय से स्थापित किया जाता है उसमें भी वह काम पूरा नहीं होता है तो वह व्यर्थ ही है। दुर्बलों की रक्षा के वास्ते जो पोलीस सरकार के द्वार रक्खे गये हैं वे भी

बलवानों का पक्ष लेकर, दुर्बलों को ही यमकिंकर की तरह सताते हैं। गरीब लोगों के रोगों को मुफ्त से निवारण करने के लिये बहुत से औषधालय, अस्पताल वगैर स्थापित किये गये और उनमें हजारों वेतनधारी डाक्टर भी नियुक्त किये गये हैं, तो भी उनमें गरीबों के ऊपर कुछ दृष्टि नहीं रक्खी जाती और मूल्यवान औषधों को पैसे वालों को देकर गरीबों को पानी ही दिया जाता है। इस प्रकार के अन्यायों को देखने वाले भी इस समय दुर्लभ हो गये हैं। जहाँ इस प्रकार के शासन नीति के विरुद्ध काम लगातार होते रहते हैं उस देश में अराजकता फैलकर पराधीनता भी आ सकती। कुछ लोग सोचते हैं कि बड़े बड़े पाप भी, गङ्गा स्नानादि थोड़े पुण्य से नष्ट हो जायँगे। वह उनका भ्रम मात्र ही है। क्योंकि, जैसे लोक में अपने हाथ पैर अबुद्धि पूर्व किसी को ज़ोर से लग जाने पर भी वह क्षमा कर देता है और उतना ही बुद्धि पूर्वक हाथ पैरों से मारने पर दुगना तिगुणा भी दण्ड दिया जाता है, वैसा ही अज्ञान-वश किये हुए पापों को ही परमेश्वर प्रायश्चित करने पर क्षमा कर देते हैं न कि जान बूज कर किये हुए कों। ऐसे पापकर्मों की वह उचित दण्ड अवश्य देता है ॥ २९३-३०२॥

न्यायालयेष्वीषदपीक्ष्यतेऽद्य न न्यायमत्यन्तमसद्वचांसि ।
तत्राभियुक्तस्य तथाऽभियोक्तुः प्रशिक्ष्यतेऽसत्यमपि प्रयत्नात् ।३०३॥
एतादृशैः कलियुगंत्विह सम्प्रवृत्तं नोचेत्कृताख्ययुगमेव सदाऽभविष्यत्।
कालः सदैकविध एव न तत्र भेदो राजप्रजाविहित एव हि कालभेदः ॥३०४॥
कालं च राजा विदधाति तं जनः सर्वः प्रकुर्याज्जनतन्त्रशासने ।
यदा यदाऽन्याय्यकुनीतयस्तदा जनस्तदानींतन एव दोषभाक् ॥३०५॥
राजा यदा दुष्यति सम्प्रमादतस्तदा प्रजा दण्डयितुं तमर्हति ।
प्रजाप्रभुत्वे ह्युचितं तदिष्यते तस्मात्प्रजा सम्यगिह प्रवर्तताम् ॥३०६॥

न्यायालयों में थोड़ा भी न्याय नहीं रह गया। और वहाँ, वादियों और प्रतिवादियों को झूटमूट सिखाया जाता है। इन्हीं हेतुओं से कलियुग बनता है, नहीं तो कृतयुग ही हमेशा रह सकता था। काल हमेशा अखण्ड ही होता है। उसमें स्वतः भेद नहीं। यदि उसमें कुछ भेद मालूम पड़ता हो तो वह राजा और प्रजा के कारण से ही है। काल का कारण राजा और राजा का कारण प्रजातन्त्र में जनता ही होती है। जब जब अधार्मिक नीतियाँ फैलती हैं तो उन

दोषों की भागी जनता होती है। यदि राजा कभी प्रमाद से गलत रास्ता में जाता तो जनतन्त्र राष्ट्र में जनता उसको दण्ड दे सकती है। अतः सब प्रकार से जनता सावधान रहे ॥ ३०३–३०६ ॥

बह्वीः प्रजाश्च जनयन्ति वराहवच्चे भूमिं निवासभवनार्थमिह क्रमन्ते।
प्राण्यन्नहेतु धरणी निलयेन भोक्तुं पर्याप्तमन्नमपि दुर्लभवेत्र जातम् ॥३०७॥
बहुप्रजोत्पादनमात्मनोऽन्य-जनस्य चात्यन्तमनिष्टहेतुः।
उत्पादकः सोऽपि सुतादिहेतोःपापान्यनिच्छन्नपि चाचरेद्धि ॥३०८॥
यः पुण्यवानेकसुतः सुतैका तस्योद्भवेतां न ततोऽधिकश्च।
यस्यैहिकामुष्मिक - दुःखभोगस्तस्यैव सन्तानबहुत्वलाभः ॥३०९॥
पुत्राश्च येषां सुतरां न सन्ति तेऽत्यन्तधन्या भुवि बन्धहीनाः।
गतिर्ह्यपुत्रस्य न हीति वाक्यं पुण्यादिहीनं प्रति सम्प्रयुक्तम् ॥३१०॥
कायेन वाचा मनसा च पुण्यं न्यायार्जितस्वीय-धनप्रदानात्।
सम्पादयेद्यस्तपसा व्रतेन महासुपुत्रश्च सदा स एव ॥३११॥
बहु प्रजावानपि वा महार्थो दानादिकं कर्तुमिहाक्षमः स्यात्।
स सर्वथा पुत्रगृहादिचिन्तः प्राणान्विमुञ्चेत्स्वसुतादिदृष्टिः ॥३१२॥
वनाश्रमान्त्याश्रमतुच्छबुद्धिर्मुक्तेरुपायानपि नाचरन् सः।
भार्यासुतादीनवलोकनेच्छुः गृहे स्वकीये रमते सदैव ॥३१३॥

आजकल की जनता सूरों की तरह ज्यादा सन्तान पैदा करती और उनके निवासस्थान के लिये सारी जमीन लुप्त कर देती है। अतः प्राणियों के खाद्य-पदार्थों की अपेक्षित भूमि भी दुर्लभ हो जा रही है। ज्यादा सन्तान बढ़ाना, अपने और दूसरों का भो अनिष्ट कारक होता है। ऐसा प्रजापति तो अपने सन्तान के वास्ते अनिच्छा से भी पाप करने लगता है। जो पुण्यवान होगा उसको एक पुत्र और एक लड़की होती है। इस लोक और परलोक में भो दुःख भोगने का हेतु जिसका हो उसका ही अधिक सन्तान पैदा होता है। जिसका बिलकुल सन्तान नहीं वह बहुत ही भाग्यशाली है। 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' यह बात तो, पुण्य न करनेवालों के विषय में बताया गया है जो न्यायार्जित धन का हृदय पूर्वक दान देता है और नित्य जप और तप और व्रत आदि करता रहता है उसके लिये वह दानादि ही सुपुत्र समझा जाता है। अधिक

सन्तानवाला बहुत धनी होने पर भी दान पुण्य आदि करने में असमर्थ होता है और वह मरने तक अपने परिवार के शादी करवाने में घर बार बनवाने की चिन्ता में हमेशा रहता है। वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम को घृणा करता हुआ मोक्ष साधनों का अनुष्ठान नहीं करता और हमेशा पुत्र और पौत्रों को देखता हुआ मरने तक घर में पड़ा रहता है ॥ ३०७-३१३ ॥

नूनं हि जाति प्रथयाऽत्र भारते हानिस्त्वदीया महती प्रजायते ।
श्रुतिप्रमाणेन न साऽपि सम्मता मानान्तराणां कथमत्र सम्मतिः ॥३१४॥
त्वय्यद्य सर्वैकृतसर्वविधापराधान् केचित्प्रकाशयितुमत्र च कामयन्ते ।
जाति प्रथाकृतमहापकृतिं परेषामिच्छन्ति नेषदपि वेदयितुं नयज्ञाः ॥३१५॥
मर्त्येष्ववान्तरविजातिमतप्रभेदा नैवेश्वरेण हि मया रचिताश्च किन्तु।
मीमांसकैरिह निरीश्वरवादिभिस्ते स्वस्वीयसन्ततिसमुन्नतिकामनातः३१६
यज्ञेषु जन्तुहननं जननेन चातुर्वर्ण्यं च सेश्वरमते सुतरामयुक्तम् ।
अन्याय्यमेतदुभयं घटते क्षितिस्थ-मीमांसकासुरनिरीश्वरवैदिकानाम्३१७॥
जन्तवण्डजादिपिशिताशनमस्ति सिंह-व्याघ्रादिजन्तुसहजं नतु मर्त्यजातेः।
तत्तच्छरीरगतदन्तनखादि भिस्तज्-ज्ञात्वाऽपि सर्वमिह तत्कुरुते हि मर्त्यः३१८

यहाँ की जाति प्रथा के कारण, आपकी हानि तो बहुत ही हो गयी और वह प्रथा श्रुत्यादि प्रमाणों से सिद्ध भी नहीं होती है। तुम्हारे विषय में लोगों के द्वारा जो अपराध हुए हैं उन सबको कुछ नीतिज्ञ लोग अपनी पत्रिकाओं में प्रकाशित करना चाहते हैं किन्तु जाति प्रथा के कारण जो हानि हुई उसको जरासा भी प्रकाशित करना नहीं चाहते हैं। मनुष्यों में जो अवान्तर-जातिमत भेद आजकल दीखते हैं वे हमारे द्वारा रचित नहीं किन्तु निरीश्वर मीमांसकों के द्वारा अपनी अपनी सन्तति की उन्नति के लिये बनाये गये हैं। यज्ञों में पशुओं का मारना और जन्म से वर्णव्यवस्था ये दोनों सेश्वरमत (ईश्वर को माननेवालों के मत) में सिद्ध नहीं होते हैं किन्तु ये दोनों अन्याय केवल निरीश्वर मीमांसक मत में ही हो सकते हैं। वे लोग पशुपक्षियों का मांस भी खाते हैं। यद्यपि ईश्वर सृष्टि में मनुष्य जाति मांसाहारी नहीं और मांसाहारी तो सिंह व्याघ्रादि ही है यह बात तत्तच्छरीरगत दन्त नखादि अङ्गों से स्पष्ट भी हो जाता है तो भी आदमी यह सब जान करके मांस खाना छोड़ते नहीं हैं ॥ ३१४-३१८ ॥

वर्णाः पुरा शमदमादिगुणैस्तदहैंरध्यापनादि-निजजीवनवृत्तिभिश्च ।
निर्धारिता निगमचोदितकर्म हेतोः होत्रादिवद्गुणवशद्गता न ततो बहिस्ते ३१९
पश्चाच्छनैः कठिनकर्मसु संविवादे ब्रह्मर्त्विजा क्षिति पतिं च वशे निधाय ।
कर्मव्यवस्थितिरिह प्रतिवंशमिष्टा जातथात्मनाऽप्यनुमता समयक्रमेण ॥३२०
अज्ञानिनां सुकृतकर्मसु जातिबुद्ध्या लीनात्मनां मतिभिदोद्भवदूरवारणाय ।
आचार्यकैरियमसत्यपरम्पराऽपि चाङ्गीकृता त्रिविधकर्मविलोपभीत्या ३२१

पहले ब्राह्मणादि चार वर्ण जन्म से नहीं माने जाते थे किन्तु शमदमादि-गुणों और अध्यापनादिजीविकावृत्तियों से वैदिक-यज्ञानुष्ठान का प्रसङ्ग आने पर होता आदि की तरह यह अमुक वर्ण है ऐसा निर्णय किया जाता था और यज्ञानुष्ठान के बाहर इन वर्णों का उल्लेख मात्र भी नहीं रहता था। बाद में धीरे-धीरे कठिन कामों में जब आपस में विवाद होने लगा तब ब्रह्मनामक ऋत्विक ने उस समय के राजा को वश में रख कर कर्म व्यवस्था कर दिया था (जिसके पूर्वज जो-जो कर्म करते थे वह और उसके भावि सन्तान भी वैसा ही काम करें) वह व्यस्था कुछ समय के बाद जाति के रूप में मानी गयी अर्थात् ब्राह्मण कर्म करने वालों का सन्तान ब्राह्मण माना गया। उस समय सब लोग अपनी-अपनी जाति के अभिमान से पितृपरम्परागत कर्मों को अवश्य करते थे। बाद के आचार्य लोग भी किसी प्रकार से काम चलाना ही मुख्य तात्पर्य समझ कर उस जातिव्यवस्था को, जिससे कर्मों का अनुष्ठान विवाद के विना ठीक चल सके, मान लिये थे और कुछ लोग समर्थन भी कर दिये थे। ॥ ३१९–३२१ ॥

जातिप्रभेदश्च हि यत्र सम्मतस्तत्राङ्गभेदोऽपि च जीवकोटिषु ।
अनादिकालादपि साम्प्रतावधि निर्मीयतेऽग्रेपि तथा करिष्यते ॥३२२॥
गवादिजन्तुष्वपि सास्नया भिदा विनिर्मिता सृष्टिकृता यथा तथा ।
स्त्रीत्वादिकं द्योतयितुं स्तनादिकं प्रत्येकजातावपि निर्मितं स्फुटम् ॥३२३॥
समानजातौ व्यवहारहेतवे व्यक्तिष्वनन्तास्वपि रूपभिन्नता ।
आचार्यरूपादपि भिन्नरूपं पित्रादिषूत्पादित - मीश्वरेण ॥३२४॥
भार्यास्वरूपं भगिनीस्वरूपतो भ्रातृस्वरूपं च पतिस्वरूपतः ।
भिन्नं च भार्योपगता यतो भवेद्धलौ न चेच्छास्त्रविधिनिरर्थकः ॥३२५॥

एवं समानोदरजातजन्तुषु परस्परं रूपभिदा विनिर्मिता ।
भ्रातृष्वपि ज्येष्ठकनिष्ठनिर्णयो यथा भवेत्तेष्वितरेतरादरः ॥३२६॥

जीवकोटियों में जहां-जहां जातिभेद हमारा सम्मत रहा था, वहां वहां उस जाति को व्यक्त कराने के लिये. अलग-अलग अंग भेद भी मैंने अनादि काल से आज तक निर्मित किया और आगे भी वैसा ही करता रहूँगा। गवादि प्राणियों में गोत्वादि जाति को अभिव्यक्त कराने के लिये सास्नारूप अंग भेद निर्मित किया गया और प्रत्येक जाति में भी स्त्रीत्वादि का द्योतन कराने के लिये स्तनादि का निर्माण किया गया था और मनुष्यादि जाति के अन्तर्गत जितना व्यक्तियाँ रहती है उनमें भी अलग-अलग व्यवहार के लिये, भिन्न-भिन्न रूप की भी सृष्टि की गयी है। आचार्य के रूप से पिता का रूप भिन्न है जिसके द्वारा विधिविहित सत्कार का ज्ञान हो सके। भगिनी के रूप से भार्या का रूप भिन्न है जिससे "ऋतौ भार्यो पेया भगिनी सत्कार्या" इत्यादि विधियों का पालन हो सके। एवं पति स्वरूप से भाई का रूप भिन्न हैं। ऐसा ही एक पिता के द्वारा एक माता के गर्भ से निकले हुए भाइयों में भी छोटा बड़ा इत्यादि ज्ञान के लिये, भिन्न-भिन्न रूप बनाया जाता है ॥ ३२२-३२६ ॥

एवं च वर्णेषु चतुर्षु जन्मतो यदि प्रभेदोऽपि मयैव सम्मतः ।
तदा चतूरूपभिदाश्च निर्मिताः सदाऽभविष्यन्नपि विश्वकर्मणा ॥३२७॥
अनन्तवैचित्र्यनिरन्तरोद्भवे समर्थनानाविधशक्तिमत्यपि ।
वर्णेषु रूपादिचतुष्टयोद्भवे किं नाभविष्यन्मयि शक्तिरद्य सा ? ॥३२८॥
तस्मादिमे सज्जनतादिवच्चतु-र्वर्णा निजात्मीयगुणैकसंश्रयाः ।
तथापि ते स्वार्थपरायणैः सुख-स्वजीविकार्थं त्विह जन्मना मताः ॥३२९॥

तथा चार वर्णो को भी यदि मैं जन्म सिद्ध जाति मानूंगा तो उनमें चार रूप भेद भी अवश्य बनाया होता। विचित्र-विचित्र दुनिया को बनवाने में समर्थ मैं क्या चार वर्णो में चार रूप बनवाने में असमर्थ हो गया हूँ ? अतः सज्जनत्वदुर्जनत्वादि की तरह चार वर्ण को भी आत्मीय गुणों से ही हमको इष्ट है ॥ ३२७-३२९ ॥

गवादिजन्तुष्वपि जातिरिष्यते न जन्मना किन्तु तदाश्रयादिना ।
संव्यज्यते सर्वगताऽपि साऽऽत्मव-त्प्रत्यक्षगम्येत्यपि कैश्चिदुच्यते ॥३३०॥

जयन्तभट्टादिमहाविशारदैः बौद्धोक्तसाधारणजातिदूषणम् ।
निवार्य तत्साधनमुख्यहेतवे निरूपितं सर्वमिदं प्रयत्नतः ॥३३१॥
गोत्वादिजातिर्यदि जन्मनेष्यते तदा भवेदश्वतराश्वयोरपि ।
एकैव जातिर्नु हि भिन्नता तयोर्न स्याद्यतोऽश्वोदरतोऽभवज्जनिः॥३३२॥
एवं च मर्त्यत्वमपीह जन्मना न सिध्यतीत्यत्र विनिश्चिते सति ।
वर्णात्मिका ब्राह्मणतादयो भुवि कथं भवेयुर्जनिसिद्ध-जातयः ॥३३३॥
कस्यां जनन्यां जनकेन केन जातोऽहमित्येतदसर्वविज्ञः ।
स्वयं न विद्यात्सुतरां च पित्रोरतः कथं वर्णमतिर्जनेः स्यात् ॥३३४॥

गवादि जन्तुओं में भी गोत्वादि जाति जन्म से मानी नही जाती किन्तु सास्नादि अंगों से अभिव्यक्त मानी जाती है। कुछ लोग जाति को प्रत्यक्ष मानते हैं। इस बात को, जयन्त भट्ट इत्यादि महापण्डित, न्यायमञ्जरीत्यादि में बौद्धों के जाति दूषणों का समाधान देते हुए सामान्यतः जाति को सिद्ध करने के लिये, स्पष्ट रूप से बताये थे। गोत्वादि जाति यदि जन्म सिद्ध मानी जायगी तो अश्व जाति और खच्चर जाति एक हो जायगी। अश्व और खच्चर दोनों घोडी से ही पैदा होते है। इस प्रकार जब मनुष्यत्व जाति भी जन्म सिद्ध नहीं है, तो ब्राह्मणत्वादिवर्ण जन्म सिद्ध कैसे होंगे। किस माता से किस पिता के द्वारा मैं पैदा हुआ हूँ यह बात असर्वज्ञ पुरुष मात्र को स्वयं जानने की नहीं है तो पितृपितामहादियों की जन्म परम्परा बिलकुल ही दुर्ज्ञेय है। अतः वर्ण जन्म सिद्ध होंगे तो उनका ज्ञान नहीं हो सकता ॥ ३३०–३३४ ॥

सन्निर्मितां जातिमिहान्यथा जनाः कर्तुं न शक्तास्तपसा व्रतैरपि ।
पुमान्निजात्मानमिहस्त्रियं नहि स्त्री वा पुमांसंत्विह वक्तुमर्हति। ३३५॥
वर्णाः पुनर्लोकपुराणयोस्तु बह्वन्यथाऽप्यत्र कृता मनुष्यैः ।
श्रीवीतहव्यो नृपतिश्च विश्वा-मित्रादयो ब्राह्मणतां गता हि ॥३३६॥
लोकेऽपि काश्यादिपुरीषु गत्वा म्लेच्छादयो ब्राह्मणतां लभन्ते ।
निश्शुल्कविद्याधिगमादिलोभात्स्वं ब्राह्मणो म्लेच्छमपि ब्रवीति ॥३३७॥
सन्मानलोभादिव-शेन गर्जयन् यो जन्मना ब्राह्मणतां समर्थयेत् ।
तं तात्त्विकं ब्राह्मणमत्र चिन्तयेत्प्रजेदृशी साम्प्रतवर्णदुस्थितिः ॥३३८॥

शास्त्रानुसारेण यथार्थवर्ण - स्वरूपमाविष्कुरुते जनो यः।
अब्राह्मणं तं मनुतेऽविचाराद्धन्धानुयाय्यन्धवदेव मूढः ॥३३९॥

ईश्वर निर्मित जाति को लोग तपोव्रतादियों से भी बदला नही सकेंगे। स्त्री अपने को पुरुष बता नहीं सकेगी और पुरुष भी अपने को स्त्री बता नहीं सकेगा। चार वर्ण तो लोक में प्रयोजन वश बहुत बदले जाते हैं और इतिहास-पुराणों में भी वर्णों को बदलने का वृत्तान्त बहुत मिलता है। विश्वामित्र और वीतहव्य भी क्षत्रियवर्ण छोड़कर ब्राह्मण हो गये हैं। काशी इत्यादि स्थानों में आकर बहुत सी बुद्धिमान हरिजन भी, ब्राह्मण बनते हैं और निःशुल्क विद्या-प्राप्ति के लोभ से बहुत सी ब्राह्मण भी आजकल अपने को पाठशालों में हरिजन लिखते हैं। पूजासन्मानादि लोभ से जो "जन्म से ही ब्राह्मण होते हैं" ऐसा गर्जन करता है उसको लोग असल ब्राह्मण समझते है और शास्त्रानुसार वर्णों का यथार्थ स्वरूप जो बताता है उसको अब्राह्मण समझते हैं। यही आजकल के वर्णों की दुस्थिति है॥ ३३५–३३९॥

यदा त्रिवेदित्वमधीतिमन्तरा त्रिवेदिवंशोद्भवहेतुना मतम्।
तदा त्रिवेदाभ्यसनं जहौ जनो विना प्रयासं तदुपाधिलाभतः ॥३४०॥
एवं शमादींश्च गुणान्विना यदा ब्राह्मण्यमिष्टं भुवि जन्महेतुना।
तदा गुणोपार्जनयत्नवर्जका जाता दुराचारपरा ह्यपि द्विजाः ॥३४१॥
एतादृश - ब्राह्मण - भोजनादिकप्रदानदोषेण तदन्न - दापकाः।
नष्टा महाराज - धनाधिपक्षिति - स्वाम्यादयोऽनर्थफलं-भजन्तः॥३४२॥
अहं यथार्थो भुवि जन्मसिद्ध ब्राह्मण्यवानित्यपि यस्य गर्वः।
तस्यापि तत्स्वीयजनैः कदाचिन्निजेच्छया कल्पितमेव नान्यत् ॥३४३॥
यथार्थविप्रत्वमिह प्रसिध्यति श्रौतक्रियाहेतुशमादिभिर्गुणैः।
यज्जन्मतः सिध्यति तत्कदाचन प्रकल्पितं स्वेन पुरातनैस्तु वा ॥३४४॥
यज्जन्मनाऽऽप्तंत्विह पण्डितत्वं न शास्त्रतः सिद्धमिति प्रसिद्धम्।
यच्छास्त्रसिद्धं तदपि स्वकीयवंशादितो नैव कदापि सिध्येत् ॥३४५॥
यद्ब्राह्मणत्वं त्विह जन्मनोच्यते तच्छास्त्रतो नैव भुवि प्रसिध्यति।
यच्छास्त्रसिद्धं तदपि स्वजन्मना न जातु सिध्येदिति कोविदा विदुः ॥३४६॥

पाण्डित्यशास्त्रित्वचतु - श्रुतित्व - त्रिवेदिताऽऽचार्यकृतादयोऽपि ।
विनैव शास्त्राध्ययनं यथेष्टा वर्णास्तथा वंशपरम्परातः ॥३४७॥

त्रिवेदित्व और त्रिपाठित्वादि उपाधियाँ भी जब वेदाध्ययनके विना ही मान ली गयी थी तब से लोग वेदों में परिश्रम छोड दिये थे। ऐसा ही शमदमादि-गुण और तदुचितकर्मो के बिना भी जन्मपरम्परासे जब लोग ब्राह्मणत्वादिको मान लिये थे तब से शुभ गुणों और शुभ कर्मोंके उपार्जन और करनेमें प्रयत्न छोडकर दुराचारी होकर भी वे अपने को ब्राह्मण कहने लगे। ऐसे लोगों को भोजनादि देनेके कारणसे ही तद्दान कर्ता राजा महाराजा और जमीन्दार लोग भी आजकल नष्ट हो गये हैं। जिसका 'मैं जन्मपरम्परासिद्ध यथार्थ ब्राह्मण हूँ' ऐसा गर्व है, वह भी किसी समयमें अपने पूर्वजों के द्वारा परिवर्तित जाति परम्परा से आया हुआ हैं। यथार्थ ब्राह्मणत्वादि तो श्रौतयागादि में प्रयोजक शमदमादि गुणों से ही सिद्ध होते हैं। जन्म सिद्ध ब्राह्मणत्वादि तो अपने या अपने पूर्वजोंके द्वारा कभी कल्पित ही है। जो ब्राह्मणत्व जन्म से मिलाता है वह शास्त्र सिद्ध नहीं है। जो ब्राह्मणत्व शास्त्रसे सिद्ध होता है वह जन्म सिद्ध नहीं है। पण्डित शास्त्री चतुर्वेदी त्रिवेदी और आचार्य इत्यादि उपाधियाँ शास्त्रों को पढे बिना जैसे जन्मपरम्परा से मान ली गयीं हैं वैसा ही चार वर्ण भी शमादि गुणों के बिना जन्म से मान लिये गये हैं॥ ३४०–३४७ ॥

यत्तूच्यते कैश्चिदजास्यबाहु-पादोरुजाता भुवि ते हि वर्णाः ।
तत्केवलं पामरवञ्चनैव न जातु वर्णाः कमुखादिजाताः ॥३४८॥

मुखादितो वर्णजनिप्रवाचिका श्रुतिस्त्विहार्थान्तरसम्प्रबोधिका ।
एतत्तदीयार्थवचोभिरेव सं-जानन्ति ते लक्षणया विचक्षणाः ॥३४९॥

स्त्रीपुंसदेहद्वयमाश्रयन्नहं दाम्पत्यधर्मेण जनान्पशून् खगान् ।
संसृष्टवान् मत्स्यसरीसृपादिकं तस्माच्च अद्यापि तथाविधोद्भवाः ॥३५०॥

आदौ मुखादेर्यदि वर्णसम्भवस्तर्ह्यद्य यावच्च तथैव तज्जनिः ।
मुखादितः स्यान्न तु योनितो यथा-पूर्वं विधिःकल्पयतीति शास्त्रतः ॥३५१॥

रूपं मयैकाङ्गजसोदराणां भिन्नं विसृष्टं व्यवहारहेतोः ।
न ह्यन्यथा ज्येष्ठकनिष्ठबुद्धिर्भवेत्समानं यदि रूपमेषाम् ॥३५२॥

एवं विभिन्नाङ्गजवर्ण - भेदकं विभिन्नरूपं व्यवहारहेतवे।
कथं मया नैव विनिर्मितं यदि मदास्यबाह्वादि-समुद्गताश्च ते ॥३५३॥
वर्णा भवन्ति श्रुतिमात्रगम्या न लोकसिद्धा महिषादिवच्च।
तस्माच्छ्रुतिप्रोक्ततदर्थवादै निश्चेतुमर्हाः श्रुतिमुख्यमानैः ॥३५४॥

कुछ लोग कहते हैं कि पहले सृष्टि के आदि में ब्रह्माजी के मुखादि अंगों से ब्राह्मणादि वर्ण पैदा हुए थे। उनका वह कथन, केवल अपठित लोगों को वंचित करने के लिये ही है। वे वर्ण हमारे मुखादि से कभी पैदा नहीं हुए हैं। मुखादि से वर्णों की उत्पत्ति बताने वाली तैत्तिरीय संहिता और ताण्ड्यब्राह्मण–वाक्यों का तात्पर्य तो लक्षणावृत्ति से दूसरे अर्थ में है। मैंने सृष्टि के आदि में तत्तज्जाति के स्त्री और पुरुष बनकर मनुष्य पशुपक्ष्यादि जातियों को उत्पन्न किया था। अतः वे प्राणि आजतक भी वैसा ही दाम्पत्यधर्म से पैदा होते है पहले ये वर्ण यदि मुखादि से पैदा हुए हो तो आज तक भी उनका जन्म 'धाता यथापूर्वम-कल्पयत्' इत्यादि प्रमाण से मुखादि से ही पैदा हुए होते न कि योनि से। एक गर्भ से पैदा हुए भाइयों का भी रूप मैंने अलग-अलग बनाया था जिससे बढा भाई छोटाभाई इत्यादि व्यवहार हो सके। यदि उन सबको मैं एक ही रूप बना दूँ तो वह व्यवहार नहीं हो सकेगा। जब एक पेटसे निकले मनुष्योंके परस्पर व्यवहार के लिये भिन्न-भिन्न रूपों के बनवाने की आवश्यकता पड़ी तो भिन्न-भिन्न अंगों से उत्पन्न मनुष्यों (चारवर्ण) के विषय में क्या कहना होगा। यदि चार वर्ण मेरे मुखादि से उत्पन्न हुए होते तो मैं अवश्य उनको पहचानने के लिये अलग-अलग रूप भेद भी बनाया होता जिस से देखते ही यह ब्राह्मण या क्षत्रिय इत्यादि ज्ञान हो सके। ब्राह्मणादि चार वर्ण वेदमात्र प्रसिद्ध पदार्थ होते हैं न कि गाय भैंस इत्यादि की तरह लोक प्रसिद्ध। अतः वेदिक अर्थवाद वाक्यों से ही उनके स्वरूप और स्थिति का निश्चय करना चाहिये ॥ ३४८–३५४ ॥

वैधं यथा यववराहपदार्थतत्त्वं श्रौतार्थवादवचनैरिह निश्चितं प्राक्।
वर्णास्तथा श्रुतिनिरुक्ततदर्थवादसन्दर्शितात्मगुणकाश्च वेदितव्याः॥३५५॥
मुखेन वीर्यं कुरुते च बाडवो दोर्भ्यां हि राजन्य इति श्रुतेर्गिरा।
ब्राह्मण्यमत्राप्यवगम्यते गुणैर्जातित्वम स्यास्त्विकमात्रकल्पितम् ॥३५६॥

आस्तिक्यवादिकृतसर्वविधापराध-वैषम्यदुष्ट्यविनयादिभिरेव लोके।
नास्तित्ववाद उदभूदिह सर्वदिक्षु संवर्धते च बुधशान्तिविनाशनाय।३५७॥
प्रान्तीयतां नास्तिकतां समूलतो जातीयतां स्वीयमताभिवेशनम्।
निर्मून्य चास्तिक्यमताभिवर्धने गीर्वाणवाणी शरणं नहीतरा ॥३५८॥

'यवमयश्चरुर्भवति' वाराहो उपानहावुपमुञ्चत' इत्यादि स्थलों में वेद-विहित यववराहादि पदार्थों का स्वरूप जैसा वेद प्रोक्त अर्थवादवाक्यों से निर्धारित किया गया था वैसा ही चार वर्ण भी वैदिक पदार्थ होने के कारण, वेदोक्त अर्थवादों से ही जानने के योग्य हैं। वेदों में वर्णस्वरूप बोधक वाक्य भी 'तस्माद्ब्राह्मणो मुखेन वीर्यं करोति बाहुभ्यां राजन्य' इत्यादि रूपसे बहुत सो हैं। इन वेद प्रमाणों से वर्ण, गुणकर्मों के द्वारा ही सिद्ध होते हैं न कि जन्म से। किन्तु आस्तिकों ने इनको जन्मसिद्ध जातियाँ बताया था। आस्तिक वादियों के द्वारा प्रचारित वैषम्यवाद और अन्यायों से ही लोक में नास्तिकवाद का जन्म हुआ और अब वह आस्तिकता को कबलित करने के लिये चारों दिशाओं में तेजी से फैल रहा है। प्रान्तीयता नास्तिकता जातीयता और साम्प्रदायकता का निर्मूलन करके आस्तिकता को वढाने में संस्कृत भाषा ही एक मात्र गति है ॥ ३५५–३५८ ॥

ये संस्कृतं भारतराष्ट्रभाषामिच्छन्ति सर्वोन्नति - हेतुभूताम्।
जातिप्रथा तैस्तु विवर्जनीया नोचेत्तदभ्यर्थितसिद्ध्यसिद्धेः ॥३५९॥
ये मर्त्य-वैषम्यनिदानभूतां जातिप्रथां वारयितुं लषन्ति।
तैर्भारते संस्कृतराष्ट्रभाषा कार्याऽन्यथा व्यर्थमनोरथास्ते ॥३६०॥
अस्पृश्यतावारणनिश्चयो यथा स्वतन्त्रतावादिमहात्मनां तथा।
आवश्यकः संस्कृतवृद्धिवादिनां जातिप्रथावारण-निश्चयोऽधुना ॥३६१॥
जातिप्रथासंस्कृतयोः समस्या-परिष्कृतिं मुख्यविधाय केचित्।
हिन्दूमतोद्धारचिकीर्षया यज्जल्पन्ति तत्केवलमात्मकीर्त्यै ॥३६२॥

जो लोग संस्कृत को भारत की राष्ट्रभाषा बनवाना चाहते है उनको जाति-प्रथा छोड़ना ही पडेगा। नहीं तो उनकी इच्छा पूर्ण नहीं हो सकेगी और जो लोग जातिप्रथा को निर्मूलन करना चाहते हैं उनको भी संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनवाना पडेगा-नहीं तो उनका मनोरथ पूर्ण नहीं होगा। जैसे भारत को स्वतन्त्र बनवाने

वाले गान्धिमहात्मा इत्यादियों के लिये भारत में अस्पृश्यता का निवारण करना आवश्यक हो गया था वैसे ही संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनवाने वालों का भी जातिप्रथा को हटाना आवश्यक है। कुछ लोग तो संस्कृत और जातिप्रथा की समस्या को ऐसे ही रख कर हिन्दूमत की उन्नति करने के लिये जो कुछ बकते हैं वह केवल अपना नाम बढाने के लिये है ॥ ३५९–३६२ ॥

जातिप्रथा चेदिह रक्षिता भवेन्न संस्कृतं भारतराष्ट्रभारती ।
श्रीसंस्कृतं चेदिह राष्ट्रभारती जातिप्रथा जीवितुमेव नार्हति ॥३६३॥
न संस्कृतं चेदिह राष्ट्रभाषा शास्त्रीय - सिद्धान्त - समूलनाशः ।
शास्त्रीयसिद्धान्त - समूलनाशे सर्वस्वनाशो निजभारतस्य ॥३६४॥
सर्वस्वनाशे निजभारतस्य जातिप्रथा रक्षितुमप्यशक्या ।
प्रागेव सर्वस्वसमूलनाशाज्जातिप्रथैवात्र निवारणीया ॥३६५॥
जातिप्रथा चेद्यदि शास्त्रसिद्धा तद्रक्षणायात्र समस्तनाशः ।
अङ्गीकृतः स्यान्नु मयैव किन्तु सा नेश्वरेष्टा न च शास्त्रसिद्धा ।३६६॥
तस्मादिहामुत्र सुखं च मुक्तिं सम्प्रेप्सवः संस्कृतमाश्रयन्ताम् ।
न ह्यन्यवाक्संश्रयणेन किञ्चित्प्रयोजनं भो भुवि संशृणुध्वम् ॥३६७॥

यदि जातिप्रथा सुरक्षित रहेगी तो, संस्कृत राष्ट्रभाषा बन नही सकेगी। यदि संस्कृत यहाँ की राष्ट्रभाषा नहीं बनेगी तो शास्त्रीय सिद्धान्तों का नाश होगा। यदि उन सिद्धान्तों का नाश होगा तो भारत का सर्वस्वनाश होगा। भारतका सर्वस्व नाश होनेपर जातिप्रथा भी रह नहीं सकेगी। अतः सर्वस्वनाश के पहले ही जातिप्रथा को हटाना आवश्यक है। यदि जातिप्रथा शास्त्रसिद्ध होती तो मैं सबको छोड़कर इसी की रक्षा करता किन्तु वह प्रथा न शास्त्रसिद्ध है न तो ईश्वर सम्मत है। अतः इह लोक और पर लोक में सुख और मुक्ति चाहने वाले सब, संस्कृत को आश्रय लेवें और यह भी समझ लें कि दूसरी भाषायें बहुतों के पढने पर भी कुछ प्रयोजन नही होगा ॥ ३६३–३६७ ॥

एको देवः सकलजगतां चानुमानैकगम्यः
एका जातिर्भुवि जनगता मर्त्यताख्येश्वरेष्टा ।

एका भाषा दिविषदनुमता संस्कृतं संस्कृतिश्च
एकं राष्ट्रं त्वखिलहितकरं सर्वदा विश्वमात्रे ॥३६८॥

सारे विश्व का ईश्वर एक ही है जो अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है। अतः सब लोग उसी को भजे। सब मनुष्यों में रहनेवाली और ईश्वर सम्मत जाति एक ही है जो मनुष्यत्वादि नाम से है, भाषा भी सब के लिये एक ही है जो सर्वाराध्य देवताओं की हो और संस्कृति भी एक जो संस्कृत शास्त्रों से सिद्ध हो और राष्ट्र भी सारे विश्वमें एक ही है ॥ ३६८ ॥

देवो भिन्नो निगमविषयभ्रान्ति - हेतोर्विभाति
जातिर्नाना श्रुतिगतचतुर्वर्ण - जातिभ्रमेण ।
भाषा बह्वयार्यगिरदशवचनोच्चारणेऽशुद्धिहेतोः
राष्ट्रं भिन्नं प्रणिगदिततद्दोष - बाहुल्यहेतोः ॥३६९॥

ईश्वर एक होने पर भी उसको बताने वाले वेदों का अर्थ समझने में लोग भ्रान्त होकर ईश्वर को भिन्न-भिन्न समझ लिये थे, मनुष्यत्वनामक जाति एक ही रहने पर भी, चारवर्णोंको चार जातियाँ समझने के दोष से मनुष्यों में अनन्त जाति भेद हो गये हैं और भाषा भी एक ही रहने पर भी उसका ठीक उच्चारण न करने के दोष से दुनिया में बहुत सी भाषा हो गयी है। इन सब दोषों के परिणाम से राष्ट्रभी, जो पहले एक ही रहता था, अब बहुत हो गये हैं ॥३६९॥

यदा सर्वा भ्रान्तीर्जहति मनसा सर्वमनुजाः
तदा ते भूमिष्ठा ह्यपि दिविषदो नित्यसुखिनः ।
जनानां संहारो विविधकलहोत्थो न भविता
सदा राष्ट्राण्येक - क्षितिपतिपुराणीव च विदुः ॥३७०॥

जब दुनिया के सब मनुष्य इन भ्रान्तियों को छोड़ देते हैं तब वे भूदेव समझे जायेंगे, सब राष्ट्र भी एक राजा के शहरों की तरह समझे जायेंगे और नाना प्रकार के जगड़ों के कारण होने वाला जन संहार भी आगे नहीं हो सकेगा ॥ ३७० ॥

आदौ तदर्थं निजभारतान्तर्देशीयभाषा सुरभारती स्यात् ।
पश्चाच्छनैरन्तरराष्ट्रिया सा० भविष्यतीत्यत्र न संशयोऽस्ति ॥३७१॥

इसके लिये पहले संस्कृत भारत में अन्तर्देशीय भाषा हो जाय। इसके बाद धीरे-धीरे अन्तःराष्ट्रीय भाषा भी वह हो जायगा। जातिमतादि भेद भ्रम भी नष्ट हो जायँगे और सब विषयों में एकता भी आ जायगी ॥ ३७१ ॥

इदं च वाणीद्रुहिणप्रभाषणं श्रुत्वा हृदा माधवभारती यतिः।
श्रीभारतान् बोधयितुं च किञ्चन श्लोकात्मना निर्मितवाँस्त योर्मुदे॥ ३७२॥

ब्रह्मा और सरस्वती जी के इस संवाद को श्रीस्वामी माधव चैतन्य भारती जी ध्यानावस्था में सुनकर इन दोनों देवताओं की प्रीति के लिए और लोगों को भी कुछ विषय समझाने के लिये श्लोक रूप में बनाये हैं ॥ ३७२ ॥

सन् १९५५ में जब श्री बाला जी तिरुपति पुरी में संस्कृत विश्व परिषदका चौथा अधिवेशन हुआ था, उस प्रसङ्ग में यह वाणी-विज्ञापना संग्रह रूप से आन्ध्र लिपि में आन्ध्रानुवाद के साथ प्रकाशित की गयी थी। उसी का अब कुछ परिवर्तन और परिवर्धन के साथ त्रिशती के रूप में प्रकाशन किया गया है। इसमें भी विवक्षित विषयों की अधिकता के कारण तीन फर्मा छापने के बाद ७२ श्लोक अधिक लिखे गये हैं। कुल श्लोक संख्या ३७२ है।

इस ग्रन्थ में चार वर्णों के विषय में प्रतिज्ञा मात्र से जो कुछ कहागया कि संस्कृत भाषा अनादि, देश भाषायें बाद में कल्पित, हिन्दू शब्द अशास्त्रीय, जाति प्रथा से संस्कृत की हानि और मत भेदों की उत्पत्ति, चार वर्ण जन्म सिद्ध जातियाँ नहीं किन्तु सज्जनत्वादि की तरह शमादिगुण सिद्ध उपाधियाँ हैं, वे ब्रह्मा मुखादि से पैदा नहीं, मुखादि जन्म बोधक श्रुतिका तात्पर्य विषयान्तर में है न कि उत्पत्ति में, गवादि की तरह चार वर्ण लौकिक पदार्थ नहीं किन्तु होत्रादि की तरह शास्त्रीय पदार्थ हैं। अतः शास्त्रोक्त अर्थवादोंसे यववराहादि पदार्थोंकी तरह इनका भी निर्णय होना चाहिए, मनुष्योंमें अवान्तर जाति भेद ईश्वर निर्मित नहीं किन्तु नानाविध कठिन कर्मोंमें नियतव्यवस्थासे लोगोंको प्रवृत्त कराने के लिये कर्मकाण्डी मीमांसकोंके द्वारा पहले कल्पित थे, ईश्वर निर्मित जाति भेदको आदमी अपनी इच्छा से बदला नहीं सकता। वर्ण तो इतिहास पुराणादि काल से लेकर आज तक बहुत बदलते रहते हैं। वर्ण जाति नहीं और जाति वर्ण नहीं और ये चार वर्ण गृहस्थाश्रम में रहने वाले हैं न कि अतिरिक्त आश्रमों में इत्यादि, इन सब बातों का एतद्ग्रन्थकार श्रीस्वामी जी ने बारह साल तक श्रुति स्मृति पुराणादियोंमें अनुसन्धान करके 'जात्युपाधिविवेक' नामक ग्रन्थमें परमत निराकरण पूर्वक श्रुत्यादि प्रमाणोंसे अच्छी तरह समर्थन किया

था, जिसको हम अपनी आर्थिक दुर्बलता के कारण, अभी तक छापवा नहीं सके। आशा है कि लोगों की सानुभूति होगी तो वह भी जल्दी से ही छाप जायगी। यद्यपि इस ग्रन्थके विषय, सामान्य लोगों की दृष्टि में असम्भव सा मालूम पड़ेंगे, तो भी ये सब, कुछ समय के बाद अवश्य हो करके रहेंगे, इन विषयोंको पूर्तिमें श्रीस्वामीजी का पूर्ण विश्वास भी है जैसे भारत स्वतन्त्रताके बारेमें श्रीमहात्मा गान्धिजीका विश्वास रहता था।

पाठकोंके प्रति हमारा निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ को पूरा पढ़ कर उन विषयों पर अपनी सम्मति या असम्मति को अपनी रिजस्टर्ड पत्रिका द्वारा या प्रैवेट चिट्ठी द्वारा हमको विदित करवाने की कृपा करें।

१५२ श्लोके 'तं काकदृष्टयेक्षतीति प्रमादवशात्पतितम्। तत्र ईक्षतिस्थाने ईर्ष्यतीति पठितव्यम्। तत्र ईर्ष्यतिप्रयोगे यंप्रति जाततः कोपस्तस्यैव सम्प्रदान संज्ञा, ~~तस्मात्कस्य~~ 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां य प्रति कोपः (पा. सू. १.४.३७) इति सूत्रेण ~~चतुर्थी विभक्ति~~ भवति न तु कार्यतः कोपविषयस्य। कोपश्चात्र घातेच्छा-समनियतश्चित्तवृत्तिविशेष इति टीकायाम्। अत एव हरये ईर्ष्यति (राक्षसः) इत्युदाहृत्य प्रत्युदाहरणत्वेन 'भार्यामीर्ष्यति, मैनामन्यो द्राक्षीदित्युक्तम्। प्रकृतेऽ-ध्यापनरूपकार्यवशात् ब्राह्मणोऽब्राह्मणमीर्ष्यति न तु घातेच्छयेत्यभिप्रायः। ३३२ श्लोके 'अश्वतराम्बयोरित्यत्र' अल्पाच्तरम् (पा. २.२.३४) इति सूत्रे-णाश्वशब्दस्य पूर्वप्रयोगो न शङ्क्यः 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः (पा० ३.२.१२६) इत्यादि सूत्रनिर्देशेन तादृशनियमस्यानित्यत्वज्ञापनात्।



आनन्दकानन प्रेस, सीके०. ३६/२० ढुण्ढिराज, वाराणसी।

दो शब्द

भारत की उन्नति तीन समस्याओं से रुकी है। पहली [illegible]
प्रथा की और तीसरी मतभेदों की। इनमें से पहली दो बहुत [illegible]
हैं जिनका परिष्कार इस ग्रन्थ और जात्युपाधिविवेक म[illegible]
इस विषय में पाठक इस गन्थ के अन्त में भी देखें।

प्रमादवश कुछ श्लोकों की हिन्दी इधर-उधर पड़ गयी है। अतः उनको इस प्रकार समझें; जैसे—५६ को हिन्दी ६० के नीचे पड़ गयी। और २५१, २५५, २६०, २६२, २६९ और २८६ श्लोकों की हिन्दी उन्हीं श्लोकों के ऊपर।

पाठक महाशयों के प्रति निवेदन है कि वे इस पुस्तक को पूरा पढ़कर उन विषयों पर अपना अभिप्राय अपनी रजिस्टर्ड पत्रिका या प्रैवेट चिट्ठी के द्वारा अपनी खर्चा से हमको विदित करवाने की कृपा करें।

आपका [illegible]दक
कृष्णानन्द ब्रह्मचारी
मन्त्री
संस्कृतराष्ट्रभाषासमितिः
B 17/99 B, तिलभाण्डेश्वर, वाराणसी

ता० ८–२–१९७३
वसन्त पञ्चमी

एतत्पुस्तक प्राप्तिस्थानम्
श्रीमुकुटेश्वर मन्दिरम्
बी १७/९९ बी, तिलभाण्डेश्वर-वीथी, वाराणसी-पुर्याम्, उत्तरप्रदेशे